सहृदयता आत्मिक प्रगति के लिये अनिवार्य

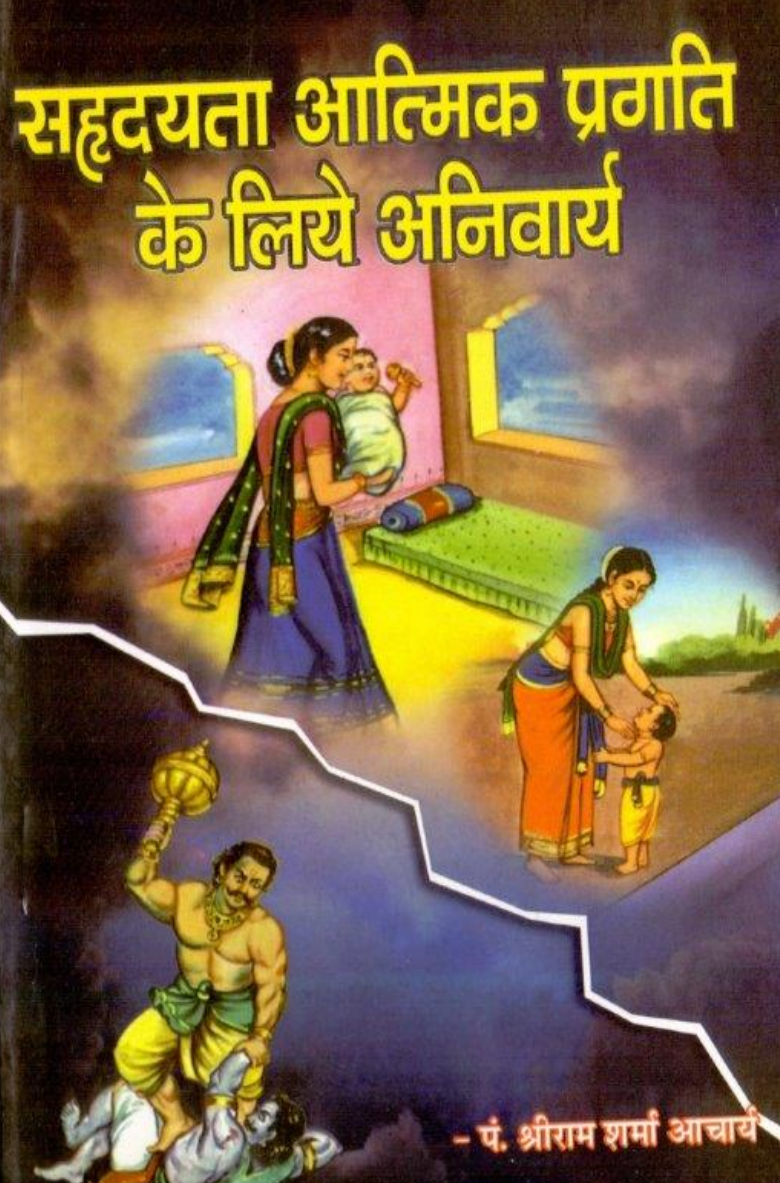

- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

सहृदयता आत्मिक प्रगति के लिए अनिवार्य

(अहिंसा का नैदानिक मनोविज्ञान)

◆

लेखक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

◆

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १८.०० रुपये

विषय-सूची

१.	असुरता की नृशंसता में परिवर्तन	३
२.	मनुष्य चाहे तो नर पिशाच भी बन सकता है	१०
३.	कुसंस्कारों की अविराम श्रृंखला	१८
४.	आत्मिक प्रगति पर आत्मा का प्रभाव	२६
५.	मांसाहार की घृणित असभ्यता	३५
६.	स्वास्थ्य के लिए भी मांसाहार प्रतिकूल	४७
७.	इस क्रूरता में सहायक हम सब	८०
८.	क्रूरता स्वभाव बन गई तब	८६

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

असुरता की नृशंसता में परिवर्तन

मनुष्य में देवता और असुर की, शैतान और भगवान् की सम्मिश्रित सत्ता है। दोनों में वह जिसे चाहे उसे गिरा दे, यह पूर्णतया उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। विचारों के अनुसार क्रिया विनिर्मित होती है। असुरता अथवा देवत्व की बढ़ोतरी विचारक्षेत्र में होती है; उसी अभिवर्द्धन-उत्पादन के आधार पर मनुष्य दुष्कर्मों अथवा सत्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। यह क्रियाएँ ही उसे उत्थान-पतन के, सुख-दुःख के गर्त में गिराती है।

असुरता कितनी नृशंस हो सकती है, इसके छुटपुट और व्यक्तिगत उदाहरण हमें आए दिन देखने को मिलते रहते हैं। ऐसा सामूहिक रूप से बड़े पैमाने पर और मात्र सनक के लिए भी किया जाता रहा है। उसके उदाहरण भी कम नहीं हैं। छुटपुट लड़ाई-झगड़ों से लेकर महायुद्ध तक जितनी क्रूरताएँ; जितनी भी विनाशलीलाएँ हुई हैं, सबके मूल में असुरता ही प्रधान रही है।

लड़ाइयाँ छोटी हों या बड़ी उनके मूल में मनुष्य की यह मान्यता काम करती है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरों के साथ बल प्रयोग करना उचित और आवश्यक है। एक ग्रीक कहावत है—"शांति चाहते हो तो युद्ध की तैयारी करो"। सशक्त पक्ष अपने अहं को प्रतिष्ठित करने के लिए छोटों के साथ दमन की नीति अपनाता है। इसमें उसे तिहरा लाभ प्रतीत होता है। अपने अहं की तुष्टि—आतंक से दूसरे लोगों का डरकर आत्म-समर्पण करना और दूसरे भौतिक लाभों को कमा लेना। अस्तु, युद्ध के पक्ष में शक्तिशाली पक्ष बहुत-से कारण बताकर अपने लोगों को उत्तेजित करके दूसरे पक्ष पर चढ़ दौड़ने की भूमिका विनिर्मित करता है।

साधारणतया अपराधों पर चिंता प्रकट की जाती है और उनकी रोकथाम का प्रयत्न किया जाता है, पर यह भुला दिया जाता है कि उस अनौचित्य की जड़ें काफी गहरी हैं। मानसिक रोगों की यह स्थिति बढ़ती ही गई तो फिर रोकथाम के राजकीय प्रयत्नों से कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा।

न्यूरेस्थेनिया के मरीज सदा अपराधों की भाषा में सोचते हैं। वैसा ही कुछ कर गुजरने का उनका मन होता है जिससे किसी न किसी पर विपत्ति आए, कोई कष्ट उठाए, किसी न किसी का नुकसान हो। इससे उन्हें अपने बड़प्पन का, शक्तिमत्ता का गौरव पा सकने का आभास होता है।

दूसरों के प्रति दुर्भावना रखने की आदत आरंभ में बहुत छोटी होती है। छिद्रान्वेषण, दोषारोपण, निंदा में रस लेना, कल्पना को लोगों की बुराइयाँ ढूँढ़ने में लगाना, अनुमान के आधार पर जिस-तिस को दुष्ट-दुराचारी मान लेना और सामने न सही, पीठ पीछे निंदा करते रहना, विकृत मन के लोगों को बहुत पसंद आता है। वे किसी के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक प्रमाण ढूँढ़ने का भी प्रयत्न नहीं करते। अपनी विकृत कल्पना को ही अमुक व्यक्ति को दुष्ट मान लेने के लिए पर्याप्त मान लेते हैं। दुष्टता के प्रति रोष होना स्वाभाविक है। रोष से घृणा पैदा होती है और घृणास्पद को हानि पहुँचाने के लिए मन में ताना-बाना बुना जाने लगता है। यही आदत बढ़ते-बढ़ते इस स्तर तक जा पहुँचती है कि मानसिक हिंसा प्रत्यक्ष आक्रमण के रूप में परिणत हो जाए और क्रूर कर्मों में रस लेने की आदत बनकर मनुष्य के जीवन को निकृष्ट स्तर तक पहुँचा दे। यह मानसिक हिंसा जब बाह्य जीवन में आकर प्रकट होती है, तो व्यक्ति किस स्थिति तक पहुँच जाता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती और कितना क्रूर हो उठता है, निष्ठुर बन जाता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। संसार के कुछ क्रूर व्यक्तियों के

क्रियाकलाप देखें, तो विदित हो सकता है कि उनकी निष्ठुरता कैसे-कैसे अनर्थ करती थी।

नमरी शाह के संबंध में सर्वविदित है कि वह यमन में गड़रिया था। भेड़ चराते-चराते डाकेजनी करते हुए दूसरे डाकुओं को अपने नियंत्रण में कर डाकुओं का सरदार बन बैठा। इसी प्रकार वह ईरान की गद्दी पर जा बैठा। शासनसत्ता को अपने हाथ में लेने के बाद यदि वह चाहता तो इतिहास पुरुष बन सकता था। अपनी प्रतिभा का उपयोग जनहित में कर लाखों व्यक्तियों का वंदनीय बन सकता था। पर उसके व्यक्तित्व में विद्यमान थे क्रूरता के—नृशंसता के तत्त्व। ईरान का शासक बनकर उसे परपीड़ा में, नर हत्या में रस आने लगा और उसने कई देशों में कत्लेआम मचाया। भारत आकर उसने दिल्ली लूटी और एक दिन में डेढ़ लाख आदमी कत्ल कराए। दिल्ली प्रायः उजड़ गई। भवन निर्माण कला के विशेषज्ञ जितने भी मिले, उन सबको कैद करके वह ईरान ले गया।

जर्मनी का हिटलर, नृशंसता में अपने वर्ग के सभी साथियों को पीछे छोड़ गया। उसका ख्याल था कि प्रथम महायुद्ध में जर्मनी यहूदियों के कारण ही हारा; इसलिए उसने उसका प्रतिशोध अगली पीढ़ी से जाति वध के रूप में लिया। उसने लगभग ५०-६० लाख यहूदियों को विषैली गैस से दम घोंटकर मार डाला।

अभी-अभी बँगला देश में पाकिस्तानी बूचरों ने ३० लाख बंगालियों को इस तरह कत्ल किया जैसा किसान घास-चारे की कुट्टी काटता है। दया और मनुष्यता से अपरिचित इन वधिकों को किन शब्दों से अलंकृत किया जाए ? ऐसे ही नृशंस असुर-कृत्य इतिहास में पहले भी दृष्टिगोचर होते रहे हैं और मनुष्यता उन पिशाचों से पहले भी कलंकित होती रही है।

२१ अक्टूबर सन् १९४१ का दिन यूगोस्लाविया की जनता के लिए सबसे नृशंस दिन था। उस दिन सात हजार निरपराध नागरिकों और स्कूलों में पढ़ रहे बालकों को एक साथ मौत के

घाट इस अपराध में उतारा गया था कि वे अपने देश को प्यार क्यों करते हैं ? आक्रमणकारी नाजियों की सहायता क्यों नहीं करते ?

२६ नवंबर ४३ को नए यूगोस्लाविया की नींव पड़ी। उस दिन इस देश के निवासियों ने नाजियों के पंजों से मुक्ति पाकर अपने को स्वतंत्र घोषित किया। क्रागुजेवर में शहीदों का समाधि स्थल बना है, जहाँ हर वर्ष राष्ट्रीय दिवस पर वहाँ की जनता अपने शहीदों को भाव भरे अश्रुओं के साथ श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

वेनेडिक्ट कार्पजे सन् १६२० से १६६६ तक लिपजिंग (जर्मनी) के सेशन कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश रहा। वह बड़ी कठोर और क्रूर प्रकृति का था। छोटे से जुआ, उठाईगीरी, जादू-टोना जैसे अपराधों में भी वह मृत्यु दंड ही देता था। मानो इससे हलकी सजा की बात उसने पढ़ी ही न हो। उसने अपने ४६ वर्ष के लंबे कार्यकाल में ३० हजार पुरुषों और २० हजार स्त्रियों को फाँसी के तख्ते पर चढ़वाया। स्त्रियों में से तो अधिकांश जादू-टोना करने के संदेह में पकड़ी गई थीं।

कार्पजे फाँसी लगने का दृश्य देखने में बहुत रस लेता था और यह व्यवस्था देखने खुद जाता था कि मृतकों का मांस खाने के लिए रखे गये शिकारी कुत्ते तथा दूसरे जानवर यथा समय पहुँचे या नहीं। औसतन प्रतिदिन ५ व्यक्तियों को उसने फाँसी पर चढ़वाया। दया करना तो उसने सीखा ही नहीं था, उसकी कुरुचि ने असंख्य निर्दोषों को करुण विलाप करते हुए अकारण मृत्यु के मुख में धकेला। आश्चर्य यह था कि यह निष्ठुर न्यायाध्यक्ष नियमित रूप से गिरजाघर जाता था। प्रार्थना करता था, बाइबिल पढ़ता था और अपने को बड़े गर्व से धार्मिक कहता था।

चंगेज खाँ का बेटा 'हलाकू खाँ' भी अपने बाप की तरह निर्दयी था। उसने ईरान पर चढ़ाई करके उसकी ईंट से ईंट बजा

दी। खलीफा को खत्म किया—इस्लामियों का सफाया किया और उस देश को खून से रंग दिया।

तैमूर लंग वलख की गद्दी पर १३५६ में बैठा। उसकी निर्दयता रोमांचकारी थी। उसने अपने शत्रुओं के रक्त और हड्डियों का गारा बनाकर कितनी ही मीनारें चिनवाईं। अंकारा के सुलतान वायजीद को उसने पकड़ा, एक पिंजड़े में उसे बंद किया और उसे अपने साथ ले गया। दिल्ली लूटा ही नहीं, सारे शहर को लाशों से पाट दिया। इस तरह उसने न जाने कितने नगरों और गाँवों में कत्लेआम कराया। खड़ी फसलों और बस्तियों में आग लगाते हुए वह आगे बढ़ता था।

बारहवीं सदी का मंगोल शासक चंगेज खाँ अपने लड़ाकू साथियों सहित जहाँ भी चढ़ाई करता, पहला काम कत्लेआम कराने का करता। लूट के धन से उसे जितनी खुशी होती थी, उससे ज्यादा मजा उसे बिलखते-चीत्कार करते नर-नारियों के सिर उड़ाने और भाले भोंकने में आता। ४६ वर्ष की आयु में वह चीन का शासक बन बैठा। उसने अनेकों नगर और गाँव उजाड़े। रूस का एक नगर तो उसने लाशों से इस तरह पाट दिया कि उन्हें उठाने वाला भी कोई नहीं बचा। बदबू से भयंकर बीमारी फैली। यहाँ तक कि उसे स्वयं, उस नगर का कब्जा छोड़कर भागना पड़ा।

रोम का शासक नीरो १४वीं शताब्दी में नौ वर्ष तक सिंहासनारूढ़ रहा। उसने अपनी करुणामयी माता का कत्ल करवाया, अपनी पत्नी का सिर कटवा डाला, जिन अफसरों से उसकी अनबन हुई देखते-देखते उन्हें मौत के घाट उतार दिया। एक बार उमंग आई तो पूरा शहर ही जलवा कर खाक करा दिया और उस अग्निकांड में हुई धन जन की भारी हानि का दृश्य एक अच्छे खासे मनोरंजन के रूप में ऊँची पहाड़ी पर बैठा देखता रहा। उस सर्वनाश का मजा उसने बंसरी बजाते हुए लूटा।

कुछ यूरेशियाई देशों में मृतात्माओं को सुख-सुविधा पहुँचाने के विचार से उनके हितैषी यह प्रयत्न करते थे कि परलोक में

उपलब्ध रहने की दृष्टि से उनके मृत शरीर के साथ उपयोगी वस्तुएँ भी—गाड़ी या जलाई जाँय। भारत में मृतक की जीवित पत्नी को मृत शरीर के साथ जलने की प्रथा रही है, जिसमें यह सोचा जाता था कि जीवित पत्नी अपने पति के साथ जलकर परलोक में उसकी सेवा करती रह सकेगी।

मिस्र में यह प्रथा सत्ताधीशों के मृत शरीर को परलोक में अधिक सुखी बनाये रखने की दृष्टि से विशालकाय 'पिरामिड' के स्मारक बनाए गए और उनके भीतर सुख-सुविधा के अनेकानेक साधन रखने का प्रचलन किया गया।

ये तथ्य बताते हैं कि मनुष्य अपने प्रियजनों की सुविधा के लिए अनेकों प्राणियों का किस प्रकार और किस हद तक उत्पीड़न कर सकता है ?

रोडेशिया में जब सीथियस सभ्यता का बोलबाला था तब राजा की अंत्येष्टि बहुत शान से होती थी। उसकी लाश में से आँतें निकालकर मसाला भरा जाता था, ताकि शरीर बहुत समय तक सड़े नहीं, उसे सुसज्जित रथ में रखकर देश भर में घुमाया जाता था, ताकि प्रजाजन उसका दर्शन कर सकें। प्रजा इस मृतक के लिए धन भेंट करती थी और कान का थोड़ा-सा टुकड़ा काटकर बलि प्रतीक के रूप में रखना पड़ता था। सभी प्रजाजन मुंडन कराते थे और समाधि बनाने में श्रमदान करते थे।

इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है, राजा के शव के साथ अंतःपुर की रानियों में से कम से कम एक को गला घोंटकर मार डाला जाता था और उसे साथ ही दफन किया जाता था। पचास घोड़े तथा पचास सेवक भी मारकर गाड़े जाते थे, ताकि वे परलोक में वाहन एवं सेवकों की आवश्यकता पूरी कर सकें।

तुर्क तातार सरदारों की अंत्येष्टि और भी भयंकर थी। शव यात्रा लंबी होती थी और उस रास्ते में जो भी मिल जाता, उसे यह कहकर कत्ल कर दिया जाता था कि—"जाओ परलोक में अपने स्वामी की सेवा करना।"

इतिहासकार मार्कोपोलो ने एक सरदार मंगूखाँ की शवयात्रा का वर्णन किया है, जिसमें सामने पड़ने वाले २० हजार व्यक्तियों का कत्ल किया गया था।

वर्तमान रूस के कृष्ण सागर के तटवर्ती इलाके में वोल्गा, यूराल, दोन तथा रूमानिया, हंगरी, बलगेरिया, साइबेरिया क्षेत्रों में ऐसी अनेक कब्रें मिली हैं जिनकी खुदाई में न केवल स्वर्णजटित रत्न आभूषण मिले हैं, वरन् मनुष्यों एवं पशुओं के कंकाल भी मिले हैं। समझा गया है कि सत्ताधीशों अथवा श्रीमंतों को परलोक में सुख-सुविधाएँ पहुँचाने की दृष्टि से ही ये वस्तुएँ तथा प्राणी दफनाए गए हैं। ये मकबरे ईसा से ६ शताब्दी पूर्व से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक नौ सौ वर्ष की अवधि के बीच के माने गए हैं।

मिश्र के पिरामिडों में यह प्रचलन चरम सीमा तक पहुँचा हुआ सिद्ध होता है जहाँ रानियाँ, दास-दासियाँ, वाहन, वस्त्र-आभूषण आदि अनेकानेक सुख-साधन बहुत बड़ी मात्रा में तथा बड़े सुसज्जित ढंग से मृतक राजाओं के साथ दफनाए गए हैं।

मनुष्य के भीतर छिपी हुई असुरता अनेक आवरणों में होकर झाँकती है। लोभ से प्रेरित होकर वह चोरी, डकैती, जालसाजी, बेईमानी, रिश्वत आदि का रूप धारण करती है। अहंकार और आतंक का दर्प लेकर वह उत्पीड़न, शोषण, हत्या आदि क्रूर कर्मों में बदल जाती है।

❐ ❐

मनुष्य चाहे तो नर पिशाच भी बन सकता है

आदर्शों की अवहेलना करने की दिशा में बढ़ते हुए कदम, स्वेच्छाचारी निर्ममता को अपनाकर कैसे कुकृत्य कर सकते हैं, ऐसे अगणित उदाहरणों में से इतिहास में एक पृष्ठ 'स्वेनेवीन' का भी है।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में एक अपराधी बहुत ही घृणित और भयंकर किस्म का समझा गया था और हर मंच से उसे घृणित और निंदित किया गया था।

जेम्स प्रथम के शासनकाल में इंग्लैंड के एडिनबरा नगर से कुछ ही दूर एक गाँव में स्वेनेवीन नामक लड़का जन्मा। उसे बचपन से ही चोरी की आदत पड़ गई। पीछे उसे क्रूरता में आनंद लेने की आदत पड़ गई। पक्षियों की गर्दन मरोड़कर उनका खून पी जाना। अकेला-दुकेला कहीं कोई कुत्ता, बिल्ली पाए तो उसे एक ही डंडे में धराशायी कर देना, मेंढकों को पैरों तले कुचल डालना, मधुमक्खियों के छत्ते जलाना आदि उसे प्रिय मनोरंजन लगने लगे। चोरी-चमारी से ही उसकी गुजर होती थी। ऐसी ही प्रकृति की एक दैत्याकार औरत से उसकी पटरी जम गई और दोनों पति-पत्नी की तरह रहकर परस्पर सहयोग से एक से एक बड़े क्रूर कर्म करने लगे। उनकी आजीविका का यही स्रोत था।

पीछे इस दंपत्ति को नृशंस हत्याएँ करने और उनका आनंद लेने के लिए एक निर्द्वंद स्थान पसंद आया, समुद्रतट का वीरान क्षेत्र गालोबे उन्हें उपयुक्त लगा और वे वहीं एक गुफा में बस गये और पूरे पच्चीस वर्ष जमकर वहीं रहे। उस क्षेत्र से निकलने वाला कोई भी यात्री उनकी मार से बच न सका। इस चतुरता से वे बेखबर यात्री पर हमला करते कि बच निकलने की बात सोचने से पहले ही उसका दम निकल जाता। अकेले-दुकेले ही नहीं,

आठ-दस आदमियों के काफिले भी इनके द्वारा सहज ही शिकार बना लिए जाते। बहकावा, विष, आक्रमण आदि ऐसे सभी उपायों में वे पारंगत हो गये थे, जिससे हत्या का प्रयोजन पूरा हो सके। मृतकों की लाशों से खिलवाड़ करना, फिर उन्हें समुद्र में बहा देना, उनसे मिले हुए धन से गुजारा, करना यही उनकी दिनचर्या बन गई थी।

उस क्षेत्र में यात्रा करने वाले प्रत्येक यात्री का गुम हो जाना, समुद्र की लहरों पर लाशों का तैरते पाया जाना, पुलिस के लिए सिर दर्द था। खोजबीन भी की जाती, पर इन आदिवासी एवं विक्षिप्त जैसे लगने वालों पर किसी को संदेह न होता। लंबी खोज के बाद गुप्तचर पुलिस ने उन्हें यात्रियों का बध करते और गरम-गरम रक्त पीते आँखों से देख लिया, तब उन्हें पकड़ा जा सका। वे पच्चीस वर्ष इस क्षेत्र में रहे, इस बीच कोई तीन हजार नर हत्याएँ उन्होंने की।

अंततः यह पूरा परिवार पकड़ा गया। जिस मांद में वे रहते थे, वहाँ सब कुछ हड्डियों का ही बना हुआ था। बर्तन, औजार, खिलौने, वे हड्डियों से ही बना लेते थे। आदमी की चर्बी उनके लिए दीपक जलाने और पकवान बनाने का काम देती थी। हजारों पौंड की धनराशि—सोना, चाँदी तथा कीमती आभूषण, पुलिस ने छापा मारकर बरामद किये।

क्रुद्ध जनता ने इस परिवार के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और एडीनबरा की सड़कें रक्त से लाल हो गईं। इन घृणित लोगों के इस प्रकार के बध पर किसी ने आँसू नहीं बहाए।

क्रूर कर्मों में आनंद लेने की वृत्ति को पैशाचिकता कहा जाता है और वह जब-तब ऐसे लोगों में भी उभरती रहती है, जिन्हें सभ्य या सुशिक्षित कहा जाता है।

जर्मनी के विषाणु शोधकर्ता फिजरांफ को पुलिस ने पकड़ा और पाया कि वह छोटे बच्चों को चुरा कर उनको तड़फा-तड़फाकर मारने के कितने ही कुकृत्य कर चुका है। लोग

आश्चर्यचकित रह गये, जब उन्होंने यह सुना कि मानवतावादी विचारों का इतना अधिक समर्थन करने वाला व्यक्ति अकारण ऐसे क्रूर कर्म करने में संलग्न रहा है।

हिटलर के दाँये हाथ मार्शल गोरिंग की क्रूरता प्रसिद्ध थी। इन दोनों ने मिलकर शत्रु पक्ष की सेना का जितना संहार किया था, उससे दस गुने अधिक जर्मन नागरिक—अपने ही देशवासी गाजर-मूली की तरह काटकर फेंक दिये थे। जिन कारणों से इतने मनुष्यों के प्राण हरण किए गए, वे इतने बड़े नहीं थे, जिनके लिए मौत आवश्यक ही होती। थोड़ा डरा-धमका देने से भी लोग चुप हो सकते या बदल सकते थे, पर इससे उन क्रूरकर्माओं की अहंता तृप्त कैसे होती ? उनके सामने भिन्न मत वालों को मजा चखाने के लिए गोली ही एकमात्र शामक उपाय था।

सामान्य नागरिकों को जिस प्रकार तड़फा-तड़फा कर इन लोगों ने मारा, उससे वे हत्याएँ और भी अधिक वीभत्स हो जाती हैं। मारना ही था, तो वह कार्य बंदूक, बिजली आदि से सेकंडों में पूरा हो सकता था। उसके लिए इतनी नृशंस पीड़ा देने की क्या जरूरत थी ? पर नहीं, इससे कम में उनके भीतर का पिशाच तृप्त ही नहीं हो सका और लाखों हत्याएँ इस प्रकार इतनी प्रताड़नाओं के साथ की गई, जिन्हें लिखना इसलिए अनुपयुक्त है कि पढ़ने वाले भयाक्रांत हो जाएँगे।

इतिहास में अनेक नृशंस शासक हुए हैं, जिन्होंने निरीह लोगों का नृशंस रक्तपात करने में भरपूर मजा उठाया। वे लोग कसाई और जल्लाद की भूमिका निभाने में न जाने अपना कितना गौरव मानते रहे ? मिस्र के पिरामिड, चीन की दीवार आदि बनाने में जितना चूना लगा होगा, उससे अधिक जीवित मनुष्यों की हड्डियाँ पिसी हैं। अमेरिका के गोरे अफ्रीकी कालों का न केवल शोषण करने में वरन् उनके शरीरों से रक्त की धाराएँ उछालने में भी फौआरों का आनंद लेते रहे हैं। मध्य

काल में कैदियों को सजा देने के विधान तो कितने ही थे, पर वह भिन्नता वध करने के समय बरती जाने वाली क्रूरता के स्तर का ही भान कराती हैं जिसमें कैदी के प्राण जल्दी निकल जाएँ, वह अधिक दयापूर्ण और अधिक हल्की सजा है। जिससे जितनी देर तक जितना तड़फा-तड़फाकर, एक-एक अंग काटते हुए—अधिक चित्र-विचित्र प्रकार की चीत्कारें निकलवाते हुए प्राण हरण किया जाय, वह कड़ी सजा मानी जाती थी। मध्यकालीन दंड विधान वस्तुतः सामंतों के हलके-भारी मनोरंजन के ही साधन थे। इस बहाने किसी न किसी विनोद स्थल पर, कोई न कोई अभागे नर-नारी, बाल-वृद्ध पकड़कर खड़े कर ही दिए जाते थे। आखिर दैनिक विनोद का आधार भी तो जारी रखा ही जाना था। इसलिए किसी न किसी को तो अपराधी बनाया ही जाता था। न जाँच- पड़ताल का किसी को समय था और न अपराधी को सफाई देने की सुविधा थी। शासक का मुँह ही अदालत था, जो निकल गया सो ठीक।

क्रूरता में आनंद लेने की वृत्ति 'सैडिज्म' कहलाती है। प्राचीन काल में सरकार, समाज जैसे तत्त्व विकसित नहीं हुए थे, इसलिए उसकी तृप्ति समर्थ लोग बिना किसी प्रतिरोध के करते रहते थे। सामंत लोग अपने साथ डाकुओं के गिरोह बनाकर रखते थे और उन्हें लेकर किसी भी ठिकाने पर चढ़ाई कर देते थे। एक जगह संग्रहीत संपदा तो इस चढ़ाई में हाथ लगती ही थी, उस देश की प्रजा को भी पूरी तरह खसोट लिया जाता था, इस भगदड़ में सैनिक और असैनिक अपने हाथ खून से चाहे जितने गहरे रंग लेने के लिए स्वतंत्र रहते थे। अब वैसी सुविधा नहीं रही। पुलिस, जेल, कचहरी, कानून आदि का सिलसिला चल पड़ा है और समाज भी उस तरह की नृशंसता सहन नहीं करता, दूसरे मनुष्यों ने सभ्यता की चादर भी ओढ़ ली है। तीसरे ऐसे कृत्यों से प्रतिक्रिया, प्रतिशोध, प्रतिरोध आदि का भी झंझट है, इसलिए सस्ते और सरल तरीके ढूँढ़ लिए गए हैं। अब शोषण के परोक्ष तरीके

सेंकड़ों निकल आए हैं। ठगी, जालसाजी, फुसलाना, फँसाना अब एक कला के रूप में विकसित हो गया है।

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के प्राध्यापक डॉ० शेरवुड वॉशवर्च का कथन है—आक्रमण एक छुतहा उन्माद है, जो एक की देखा-देखी दूसरे पर चढ़ता है। भीड़ में हिंसा फूट पड़े तो उस समूह के अन्य लोग भी अकारण गदर मचा देते हैं, चाहे उसका परिणाम किसी के लिए कुछ भी क्यों न हो। विजय में उन्मत्त सेनाएँ पिछले दिनों किस कदर निरीह प्रजा का उत्पीड़न करती रही हैं, इसका इतिहास बहुत ही कालिमापूर्ण है। युद्धों में सेना—सेना से ही लड़ती हो, ऐसी बात नहीं। लड़ाकुओं को जनविनाश में भी मजा आता है, उन्माद का नशा उतर जाने पर सोचते हैं—आक्रमण से किसी का कुछ भला नहीं होता, यहाँ तक कि आक्रमणकारी स्वयं भी बहुत घाटे में रहता है।

कैलीफोर्निया के स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ० डेविड हंबर्ग का कथन है—आक्रमण को सर्वत्र क्रियान्वित होते देखा जा रहा है, इस पर भी उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकी। अपराधों की रोकथाम में दंडनीति को कानूनी समर्थन मिल सकता है, पर लोग एक दूसरे पर चढ़ दौड़ने की नीति अपनाएँ तो, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का कुचक्र अमुक व्यक्तियों तक ही सीमित न रहेगा, वरन् पूरी सामाजिक शांति को अपनी चपेट में ले लेगा।

एक विद्वान् का कथन है—भूखे लोग भोजन माँगते हैं—थके लोग विश्राम चाहते हैं और जब पागलपन सवार होता है तो लोग लड़ने पर उतारू हो जाते हैं।

युद्ध कितने महँगे, कष्टकर, विनाशकारी एवं अगणित समस्याएँ उत्पन्न करने वाले होते हैं, यह अब अधिक अच्छी तरह समझा जाने लगा है। किसी जमाने में यह समझा जाता था कि शांति-रक्षा एवं आत्म-रक्षा के लिए युद्ध की तैयारी करना

आवश्यक है, पर पदार्थ विज्ञान और मनोविज्ञान के गहन निष्कर्षों ने हमें इस नतीजे पर पहुँचाया है कि लड़ाई से कोई समस्या हल नहीं होती। द्वेष-प्रतिशोध का कुचक्र परस्पर आक्रमण के दाँव-घातों का ताना-बाना बुनता है, समयानुसार दोनों पक्ष एक दूसरे को अपनी-अपनी दुरभिसंधियों का निशाना बनाते हैं और उस शृंखला का अंत तब होता है जब दोनों पक्ष लगभग अपनी क्षमता नष्ट कर चुके होते हैं। विजेता और पराजित दोनों ही लगभग समान रूप से क्षतिग्रस्त होते हैं। इसलिए उनकी निरर्थकता स्पष्ट है। अब विचार विनिमय, न्याय, तर्क, औचित्य आदि के आधार पर ऐसे निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा निर्णय कराने और उसे दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किए जाने को मान्यता देकर, मतभेदों को दूर करने की बात ही उचित मानी जानी चाहिए।

लड़ाई अब दिन-ब-दिन इतनी महँगी होती जा रही है कि उसका भार उठाना सामान्य स्तर के देशों या लोगों के लिए संभव नहीं रह गया है।

जूलियस सीजर के समय लड़ाई में एक सैनिक मारने के लिए ७५ सेंट खर्च पड़ता था। पीछे नेपोलियन के जमाने में वह बढ़कर २१ डालर हो गया। दूसरे विश्व युद्ध में उसकी दर और बढ़ी और एक सैनिक मारने के लिए ५० हजार डालर खर्च करने पड़े। वियतनाम की लड़ाई में वह सात गुना बढ़ गया है। एक सैनिक मारने पर अमेरिका को ३,४४,८२७ डालर खर्च करना पड़ा। दूसरे युद्ध में विश्व की अपार संपत्ति युद्ध के लिए खर्च हुई। छोटे से वियतनाम युद्ध में ही इतना धन लग गया, जिससे उस छोटे से देश को जापान के बराबर समृद्ध और समुन्नत बनाया जा सकता था।

इतना सब होते हुए भी राष्ट्रीय स्तर पर बड़े युद्ध होते हैं और व्यक्तिगत स्तर पर अथवा दलबंदी के आधार पर छोटे लड़ाई-झगड़े। इनके पीछे कुछ व्यक्तियों की 'युयुत्सा' ही काम कर

रही होती है। वे तनिक से कारणों को लेकर युद्धोन्माद पैदा करते हैं और धन-जन की अपार हानि खड़ी कर देते हैं।

घरों में जरा-जरा-सी बात पर विग्रह खड़े होते हैं। पुरुषों द्वारा स्त्रियों को पीटा जाना—स्त्रियों द्वारा बच्चों की पिटाई, पालतू पशुओं को धुन डालना, कीड़े-मकोड़ों को कुचल डालना, पक्षियों का अंधाधुंध शिकार जैसे क्रूर कृत्य किसी को कोई बड़ा लाभ नहीं देते, तो भी लोग उन्हें करते हैं और प्रसन्न होते हैं। यह क्रूरता एक मानसिक आवेश है, जो धन लोभ के साथ मिलकर सामान्य लोगों को दुर्दांत दस्यु बना देता है।

हत्याओं और आत्म-हत्याओं का दौर अब क्रमशः बढ़ता ही जाता है। मृत्यु दंडों, दुर्घटनाओं और युद्धों में जितने आदमी मरते हैं, उससे कहीं अधिक आत्म-हत्याओं और हत्याओं से मरते हैं। इनके कारण ढूँढ़ने पर आश्चर्य होता है कि इतनी छोटी बात के लिए इतना बड़ा कुकृत्य कैसे बन पड़ा ? ऐसे कारण तो अक्सर आते रहते हैं—संभवतः उस हत्या करने वाले के जीवन में भी न्यूनाधिक मात्रा में आते रहे होंगे।

यह आवेश ही है जो मनुष्य के सिर पर कभी-कभी उन्माद की तरह हावी हो जाता है। उस समय उसे जो कुछ भी सूझ पड़े वह कर गुजरता है। इस आवेश का दबाव इतना असह्य हो जाता है कि वह उससे पीछा छुड़ाने के लिए हत्या—आत्महत्या या और भी जो कुछ उसे सूझ पड़े, वह कर गुजर सकता है। वस्तुतः वह प्रयास अपने ऊपर छाए तनाव से पीछा छुड़ाने के लिए किया गया भौंड़ा उपचार मात्र होता है; जिसे न्यायसंहिता एवं समाज व्यवस्था के अनुसार जघन्य अपराध ही गिना जाएगा।

अपराधियों को दुष्ट, पापी समझा जाता है। यह आरोप एक हद तक ही सही है। अपराध करने की क्रमबद्ध योजना बनाना और उसके लिए बुद्धिमत्तापूर्ण ताना-बाना बुनना भी कम नहीं होता। इसमें आवेश नहीं, मनुष्य का भ्रष्ट जीवन दर्शन ही

काम कर रहा होता है। उसे नीति, निष्ठा, आदर्शवादिता एवं मानवी शालीनता पर विश्वास नहीं होता। अपने आपको हेय, नीच, निकृष्ट, पतित स्थिति में रख लेने पर, फिर संसार का कोई काम घृणित नहीं रह जाता। जिस प्रकार भी स्वार्थ सिद्ध हो, वह सब कुछ उचित लगता है। बुद्धि को उचित-अनुचित का ज्ञान न होता हो, ऐसी बात नहीं है। पर बुद्धि सदा से आस्थाओं की अनुगामिनी रही है। विश्वासों के आधार पर जीवन की दिशा बनती है और उसी राह पर बुद्धि एवं क्रिया के कदम उठने लगते हैं। मूल में इच्छाशक्ति ही होती है, जिसे श्रद्धा, भावना, आस्था के रूप में परिपक्व देखा जा सकता है। आस्थाएँ यदि निकृष्ट हैं, तो मनुष्य की मानसिक और शारीरिक गतिविधियाँ उसी स्तर के प्रयत्नों में संलग्न रहेंगी। अपराधी की हरकतें करते रहने वालों में से कितने ही अपना अंतःकरण निकृष्ट स्तर का बना चुके होते हैं और वे उसी प्रकार का ताना-बुना बुनते रहते हैं। उनकी अपराध शृंखला में नई-नई कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं।

❐ ❐

कुसंस्कारों की अविराम शृंखला

मध्य प्रदेश के डाकुओं के कुकृत्य ऐसे ही हैं, जिनसे उस प्रांत की गरिमा का मस्तक लज्जा से नीचा झुका है। कानपुर का कनपटी मार बाबा इसी में आनंद लेता था कि सड़क पर सोते हुए मजदूर किस तरह उसके हथौड़े की चोट से तिलमिलाकर मरा करते थे ? इस प्रकार कनपटी तोड़कर उसने सैकड़ों हत्याएँ की थीं। मनुष्यों और पशुओं पर समान रूप से आजीवन छुरी चलाने का व्यवसाय करने वालों की इस दुनिया में कमी नहीं है।

ऐसे लोग मरने के बाद भी प्रायः उसी प्रकृति के बने रहते हैं, और जिस प्रकार जीवनकाल में दुष्ट आचरण करते रहे थे वैसे ही प्रेत-पिशाच बनकर, मरने के बाद भी लोगों को सताते हैं।

इटली का तानाशाह मुसोलिनी, कम्युनिस्ट क्रांति के उपरांत अपनी जान बचाकर भागा। वह स्विट्जरलैंड की तरफ अपनी प्रेयसी क्लारा पैट्सी के साथ एक ट्रक में बैठकर गुप्त रूप में जा रहा था। अरबों रुपये की बहुमूल्य संपत्ति, सोने की छड़ी—हीरे, जवाहरातों, पौंड, पेन्स और डालरों के रूप में उसके पास थी। पर उसका यह पलायन सफल नहीं हुआ, रास्ते में ही वह पकड़ा गया। दूसरे दिन कम्युनिस्टों ने उन दोनों को गोली से उड़ा दिया और उनकी सारी संपत्ति अपने कब्जे में ले ली। दोनों लाशों का सार्वजनिक प्रदर्शन किया गया।

इसके बाद कहते हैं कि मुसोलिनी ने भयंकर प्रेत-पिशाच का रूप धारण कर लिया। वह अपने खजाने का लाभ किसी और को नहीं लेने देना चाहता था, खुद तो अशरीरी होने से उसका लाभ उठा ही क्या सकता था ? कहा जाता है कि उसी ने प्रेत रूप में खुद खजाना छिपाया और खुद ही रखवाली की। जिन्होंने उसका पता लगाने की कोशिश की। उनके प्राण लेकर छोड़े। इतना ही

नहीं, जिनके प्रति उसके मन में प्रतिहिंसा की आग धधक रही थी, उन्हें भी उसने मारकर ही चैन लिया।

आश्चर्य यह हुआ कि वह विपुल संपदा रहस्यमय ढंग से कहीं गायब हो गई। गुप्तचर विभाग की सारी शक्ति उस धन को तलाश करने पर केंद्रित कर दी गई। इसी बीच एक घटना और घटित हो गई कि गुप्तचर विभाग की जिन दो सुंदरियों ने मुसोलिनी को पकड़वाने में सहायता की थी, वे मरी पाई गई।

इसी प्रकार जिन लोगों को खजाने के बारे में कुछ जानकारी हो सकती थी, ऐसे ७५ व्यक्ति एक-एक करके कुछ ही दिनों के भीतर मृत्यु के मुख में चले गए। जिस ट्रक में मुसोलिनी भाग रहा था उसके ड्राइवर गौरेवी की लाश क्षत-विक्षत स्थिति में एक सड़क पर पड़ी पाई गई। उसके पास मुसोलिनी का फोटो मौजूद था।

खजाने से भी अधिक रहस्यमय यह था कि उस प्रसंग से संबंध रखने वाले सभी व्यक्ति एक-एक करके मरते चले जा रहे थे। संदेह यह किया जा रहा था कि कोई संगठित गिरोह यह कार्य कर रहा होगा; पर यह बात इसलिए सही नहीं बैठ रही थी कि मरने वाले एकाध दिन पूर्व ही बेतरह आतंकित होते थे और मुसोलिनी की आत्मा द्वारा उन्हें चुनौती, चेतावनी दिये जाने की बात कहते थे। खोज-बीन में संलग्न अधिकारी गोना भी उस खजाने वाली झील के पास मरा पाया गया। दूसरे अधिकारी मोस्कोवी की लाश उसके स्नानागार में ही मिली, जिसका सिर गायब था। लाश के पास ही एक पर्चा मिला, जिस पर लिखा था—"मुसोलिनी का शरीर मर गया, पर उसकी आत्मा प्रतिशोध लेने के लिए मौजूद हैं।" गुप्तचर विभाग यह सोचता था, शायद मुसोलिनी के साथी यह बदला लेने के लिए ऐसा कर रहे होंगे, पर आश्चर्य यह था कि मुसोलिनी के दाँये हाथ समझे जाने वाले व्यक्ति भी इन्हीं मृतकों की सूची में शामिल थे। उसके विश्वस्त

समझे जाने वाले साथी मेरिया की भी यही दुर्गति हुई। कम्युनिस्टों से लेकर मुसोलिनी समर्थकों के बीच बिना भेद-भाव किए यह अंधाधुंध हत्याकांड आखिर किस उद्देश्य के लिए चल रहा है ? उसे कौन चला रहा है, उस रहस्य पर से पर्दा उठाए उठ नहीं रहा था।

मिलान पत्र के संपादक ने एक सूचना छापी कि वह खजाने के बारे में कुछ जानकारी देगा। दूसरे ही दिन उसके सारे संबंधित कागजात चोरी हो गए और वह मरा पाया गया। सर्वत्र आतंक छाया हुआ था और कोई गुपचुप भी उस खजाने के बारे में चर्चा करने की हिम्मत न करता था, क्योंकि लोगों के मन पर यह आतंक जम गया था कि मुसोलिनी की आत्मा ने खजाना स्वयं कहीं छिपा लिया है और वह उसे छोड़ना नहीं चाहती। जो उसे तलाश करने में लगे हैं या जिन्हें उसकी गतिविधियों का थोड़ा भी पूर्वाभास है, उन सबको वही आत्मा चुन-चुनकर समाप्त कर रही है।

इस कार्य के लिए अतिरिक्त रूप से नियुक्त वरिष्ठ खुफिया पुलिस के अधिकारी बूबर और स्मिथ नियुक्त किए गए। उन्होंने खजाने का पता लगाने का बीड़ा उठाया। यह स्पष्ट था कि वह धन कोमो झील के आस-पास ही होना चाहिए, क्योंकि वहीं मुसोलिनी पकड़ा गया था। पकड़े जाते समय उसके पास वह खजाना था। गायब तो वह इसके बाद ही हुआ। इसलिए उसका वहीं कहीं छिपा होना संभव है। कम्युनिस्टों ने भी उसे वहीं कब्जे में ले लिया था और एक के बाद एक उनके बड़े अफसर भी जल्दी ही एकत्रित हो गए थे। इतने समूह द्वारा चुरा लिए जाने की बात भी संभव नहीं थी। फिर वे पकड़ने वाले कम्युनिस्ट भी तो उसी कुचक्र में मर रहे थे।

अपने खोज-कार्य में बूबर और स्मिथ अपने दल सहित कोमो झील के समीप ही डेरा डाले पड़े थे। अचानक एक रात उन्होंने मुसोलिनी को सामने खड़ा देखा। उसका पीछा करने के

लिए वे दौड़े, पर तब तक वह गायब हो चुका था। हाँ, उसके पैरों के ताजा निशान ज्यों के त्यों धूल पर अंकित थे। गुप्तचर विभाग ने प्रमाणित किया, वे निशान सचमुच मुसोलिनी के पद चिह्नों से पूरी तरह मिलते हुए हैं। वे दोनों ही अधिकारी दूसरे दिन से गायब हो गए और फिर उनका कहीं पता न चला।

इटली के मिनिस्टर की पत्नी मेरिया मतंक के कब्जे में भी मुसोलिनी का कुछ धन था। वह उसे लेकर स्विट्जरलैंड भागने का प्रयत्न कर रही थी कि चुंगी चौकी के पास अज्ञात स्थान से गोली चली, अधिकारी मारा गया और मेरिया गायब हो गई।

खजाने की बात तो पीछे रह गई, इन सनसनीखेज हत्याओं ने एक नई हलचल मचा दी। सरकार ने हत्याओं की खोज के लिए एक कमेटी बिठाई। इसके अध्यक्ष बनाए गए प्रधान जनरल लोइन जिंगेल। उन्होंने प्रारंभिक खोज के लिए जितने कागजात इकट्ठे किये थे, एक दिन देखते-देखते उनकी मेज से वे सभी गायब हो गए। कमेटी के एक सदस्य ऐजिली की मृत्यु हो गई। उसे आत्महत्या या हत्या का केस बताया गया। इन परिस्थितियों में जाँच कार्य आगे चल सकना संभव न हो सका और खजाने की तथा उस सिलसिले में चल रही हत्याओं की खोज का कार्य बंद कर देना पड़ा।

मनुष्य के भीतर अमृत भी है और विष भी। देवता भी है और असुर भी। वह स्वेच्छानुसार दोनों में से किसी की परिपुष्टि और किसी को भी तिरस्कृत कर सकता है, जिन्होंने देवता को सींचा, वे स्वयं संतुष्ट रहे और संसार के लिए सुख-शांति का पथ प्रशस्त किया। इसके विपरीत जिन्होंने असुरता पकड़ी और नृशंस गतिविधियाँ अपनाईं, जाना तो उन्हें भी पड़ा, पर अपने सामने और पीछे वे केवल ऐसी दुखद स्मृतियाँ छोड़ गए हैं, जिन्हें सदा कोसा और धिक्कारा जाता रहेगा।

जीव विकास की क्रमिक शृंखला पार करता हुआ जीवात्मा मनुष्य शरीर में प्रवेश करता है। यों यह सुरदुर्लभ ईश्वरीय उपहार है, तो भी उसके साथ निकृष्ट योनियों के पिछले संस्कार जुड़े रहते हैं। इन्हें परिष्कृत करके इस देव योनि के उपयुक्त आदतें विनिर्मित करनी हैं। यही जीवन साधना है। यदि यह प्रयत्न न किया जाय, तो पशु संस्कार बने रहेंगे और मनुष्य ऐसे कृत्य करता रहेगा, जो उसकी संस्कृति के लिए कलंकपूर्ण हैं।

सिंह, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू, बाज, गिद्ध की तरह आक्रमण करने और दूसरों का विनाश करने में प्रसन्नता अनुभव करने की प्रवृत्ति असंस्कृत मनुष्यों में पाई जाती है। नर, मादा के बीच बिना माता, पुत्री, बहिन आदि का अंतर किए अन्य प्राणियों में यौन स्वेच्छाचार चलता है। मानवी विवेक में कुछ मर्यादा का बंधन लगता है, पर पशुओं और कीड़ों में वैसा कोई बंधन नहीं होता। जिनके मानवी संस्कार उदय न हुए होंगे, उनमें भी ऐसा ही स्वेच्छाचार चल रहा होगा। कुत्तों को रोटी के टुकड़े फेंके जाए तो वे बिना साथी-बच्चों का ध्यान रखे पहले अपना पेट भरेंगे। दुर्बलों को दुत्कार कर अपना स्वार्थ सिद्ध करेंगे। नर पशु भी ऐसी ही स्वार्थपरता, क्रूरता, निर्दयता और स्वेच्छाचार का परिचय देते हैं। इन दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए धर्म, अध्यात्म, दर्शन, पुण्य, परमार्थ, संयम, नीति, मर्यादा, कर्तव्य आदि का निर्धारण हुआ है। यदि भाव-परिष्कारों से उसे सुसंस्कृत न बनाया जाए, तो उसकी पशुता यथावत् बनी रहेगी और पोषण पाकर अधिक विकृत-विघातक बनती रहेगी। यह स्थिति उसे नर पशु और नर पिशाच स्तर का रखेगी और बुद्धिमत्ता का संयोग मिलने से वह रोमांचकारी, अनाचार के दृश्य उपस्थित करेगी। आज हमारी प्रगति इसी दिशा में तेजी से हो भी रही है।

यूनेस्को द्वारा पैरिस में आयोजित एक "आक्रामक प्रवृत्ति अन्वेषण गोष्ठी" में कतिपय मनःशास्त्रवेत्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किए और इस बात पर चिंता प्रकट की कि मनुष्य जहाँ बुद्धि, संपत्ति और वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर बढ़ रहा है, वहीं उसमें आक्रामक प्रवृत्ति भी बढ़ रही है, जो हत्या, आत्महत्या तथा दूसरे अपराधों के रूप में सामने आ रही हैं। लड़ाई-झगड़े आदि की घटनाएँ बढ़ रही हैं।

इसी गोष्ठी में आक्रामक प्रवृत्ति का मूल कारण व्यक्ति का उद्धत 'अहं' बताया गया, इसी के कारण यह मान्यता बनती है कि हमारा प्रतिपादन सही है और दूसरा जो कुछ भी कहता है, वह कितना ही तर्कसंगत क्यों न हो, गलत है। अपनी गलती स्वीकार करने और मानने में व्यक्ति को अपने 'अहं' पर ठेस लगती अनुभव होती है। लड़ाई की अवांछनीयता और सहयोग की उपयोगिता हर किसी को समझाई जा सकती है, पर 'विकृत अहं' उसे कहने-सुनने तक ही सीमित रखता है और मान्यता, भावना एवं क्रिया की गहराई तक उसे नहीं उतरने देता।

"हमारा नहीं, दोष दूसरों का है" सिद्ध करने की जब पहले से ठान ली गई हो, तो संतुलित विचार-विनिमय के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती—मात्र अनिर्णीत विवाद हो सकता है। प्रतिष्ठा का प्रश्न बनकर सुदृढ़ पूर्वाग्रह किसी भी सफाई या तर्क से झुक नहीं सकता। यदि दलीलें अपने पक्ष में कम पड़ती होंगी, तो भी वह हारने वाला नहीं है—सामने वालों को दुर्बुद्धि एवं दुर्भावनाग्रस्त बताकर डटा अपनी ही बात पर रहा जाएगा। विवेक का उदय पक्षपातरहित स्थिति में ही हो सकता है। उद्धत अहंमन्यता के तूफान में न्यायोचित तथ्य का पता लगाने वाले विवेक के पैर टिक ही नहीं पाते।

कौन बलवान है और कौन दुर्बल ? इसकी परीक्षा करने की कसौटी यह होनी चाहिए कि कौन कितना सहिष्णु है और कौन

कितना असहिष्णु है ? जो तनिक-सी विपरीतता सामने आते ही उबल पड़ता है या डरने, काँपने लगता है। समझना चाहिये, कि यह दुर्बल किस्म का मनुष्य है। अंतःचेतना की दयनीय स्थिति इससे बढ़कर और क्या हो सकती है कि उसे हवा के झोंके, हलके तिनके की तरह किधर भी उड़ा ले जाएँ और वह वैसे किसी झोंके का प्रतिरोध न कर सके।

भारी और वजनदार वस्तुओं का मूल्य और टिकाऊपन इसलिये होता है कि वे अवरोधों को सहन करते हुए अपनी राह पर, अपनी दिशा में ठीक तरह चलती रह सकती हैं। रेलगाड़ी और वायुयान यदि हवा के प्रभाव की दिशा में चलने, उड़ने लगें, तो फिर उनमें बैठने वालों का ईश्वर ही रक्षक है।

हर मनुष्य की आकृति एक दूसरे से भिन्न है और प्रकृति भी। हर आदमी की मनःस्थिति एक-सी नहीं होती। उसके सोचने का अपना तरीका होता है और निर्णय करने का अपना ढंग। यह मानसिक स्तर जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों और स्तरों पर निर्भर रहता है। उसमें सुधार-परिवर्तन भी होता है, पर आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति दूरदर्शी और विचारशील ही हो। साथ ही यह भी, अनिवार्य नहीं कि मनुष्यों की विचारधारा, रुचि, प्रकृति और मनःस्थिति एक जैसी हो। इस प्रकृति प्रदत्त भिन्नता को हमें ध्यान में रखना होगा कि समन्वयशीलता और सहिष्णुता की नीति अपनाकर यथा संभव अधिक से अधिक तालमेल बिठा सकने में ही आंशिक सफलता मिल सकती है और उसी कामचलाऊ समझौते के आधार पर जीवन-शकट को गतिशील रखा जा सकता है।

हमारी ही आकृति या प्रकृति के सब लोग बन जाएँ, यह सोचना बेकार है। हमारा ही नियंत्रण, अनुशासन या परामर्श परिवार में या पड़ोस में शिरोधार्य किया जाना चाहिए, यह आकांक्षा थोड़े अहंकार का विज्ञापन करती है। हम दूसरे के शुभ-चिंतक और परामर्शदाता हो सकते हैं और उन्हें श्रेष्ठ पथ पर चलाने के

लिए अपनी सूझबूझ के अनुसार भरसक प्रयत्न कर सकते हैं, यह अपनी मर्यादा है। इस मर्यादा में रहकर ही हमारी सज्जनता अक्षुण्ण रह सकती है, इससे आगे बढ़कर जब हम दूसरों को बाध्य करने में जितना दबाव डालते हैं और आतंकवादी आधारों को अपनाते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि यह मनुष्य की मर्यादाओं का उल्लंघन है। आक्रमण को रोकना आत्म-रक्षा की दृष्टि से सही है, पर अपना अनुयायी बनाने के लिए बाध्य करना मानवी अधिकारों के अपहरण के बराबर है।

मनुष्य हो या पशु-पक्षी, किसी को भी अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरे को दबाने, उसकी स्वतंत्रता छीनने का अधिकार नहीं है। किसी पर भावनात्मक दबाव डालने से लेकर हत्या करने, आतंकित करने तक, कोई भी कार्य क्रूरता और निष्ठुरता की पंक्ति में आ जाता है। निष्ठुरता के उन स्रोतों को तलाशा और सुधारा जा सके; देवत्व और मानवता के पक्ष को सुविधापूर्वक उभारा जा सके, तो उसी में सबका हित सन्निहित है।

❐ ❐

आत्मिक प्रगति पर आत्मा का प्रभाव

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस नाते उसे समाज के दूसरे सदस्यों को भी सहना और उनके साथ निर्वाह करना पड़ता है। सहन करना इस अर्थ में कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। परमात्मा ने किन्हीं भी दो मनुष्यों अथवा दो प्राणियों का स्वभाव एक जैसा नहीं बनाया, इसलिए किसी के स्वभाव का कोई गुण, कोई प्रवृत्ति अपने प्रतिकूल जान पड़ने पर भी उसे सहने की, निभाने की रीति-नीति मानवता का पहला पाठ कही जा सकती है।

इस कसौटी पर वर्तमान समाज और उसके सदस्यों की रीति-नीति को परखा जाए तो विदित होगा कि आज का मनुष्य दूसरे को सहने के लिए जरा भी तैयार नहीं है और अपने को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति को अपने मनोनुकूल बनने की अपेक्षा रखता है। स्वार्थपूर्ण संघर्ष का आरंभ यहीं से होता है और जो दूसरों को अपने मनोनुकूल बनाने में जितना सफल हो जाता है स्वयं को उतना ही गौरवान्वित समझता है। स्वार्थों के संघर्ष से ही आपसी संबंध बिगड़ते हैं और महायुद्धों के मूल में भी यही कारण विद्यमान रहता है। कहने को सामाजिक, सुव्यवस्था, सुखशांति की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। उसकी उपयोगिता भी एक दूसरे को बताते-समझाते हैं, पर स्थिति को उपलब्धि की दृष्टि से परखा जाए तो यही कहना पड़ेगा कि सच्चे हृदय से ऐसा कोई नहीं चाहता।

कारण ? उच्च आदर्शों की चर्चा-परिचर्चा सभी करते हैं, परंतु आम व्यक्तियों का भावनात्मक स्तर जितना ऊँचा और जिस तरह का है, उससे "बोए पेड़ बबूल का। आम कहाँ से खाए" वाली उक्ति ही चरितार्थ होती है। प्रश्न उठता है कि वर्तमान युग के क्लेश, कलह, विग्रह, अशांति और उद्वेगों को क्या मिटाया नहीं जा सकता है? मिटाया जा सकता है, पर उसके लिए पहले व्यक्ति

का भावनात्मक स्तर ऊँचा उठाना आवश्यक है। पशु-पक्षियों के उत्पीड़न से लेकर मानव समाज में व्याप्त अशांति जैसी जितनी भी विकृतियाँ इस युग में बढ़ रही हैं, उनका प्रमुख कारण मनुष्य की भावनाओं में आई गिरावट ही है। मनुष्य का भावनात्मक स्तर दिनों दिन गिरता जा रहा है और उसके अंतःकरण में प्रेम, विश्वास, त्याग, क्षमा, उदारता, दया, मैत्री और समानता का स्थान स्वार्थ और छल-कपट ने ले लिया है। बुद्धिवाद ने बताया कि कर्मफल का कोई अस्तित्व नहीं, इसलिए कुछ भी करने से डरना नहीं चाहिए, पर तथ्य यह बताते हैं, कि न तो एक व्यक्ति का पाप उसे छोड़ सकता है और न सामूहिक अपराध समाज को बख्श सकते हैं। पाप और अत्याचार का दंड प्रकृति का एक सनातन सत्य और अटल सिद्धांत है, उससे कोई बच नहीं सकता। उसकी कृपा तो नैतिक आदर्शों और मानवीय भावनाओं से ही मिल सकती है, इसके लिए विज्ञान और तद्जन्य साधन आवश्यक नहीं। एक प्रयोग ऋषि करके दिखा गये हैं कि मनुष्य-साधनों के अभाव में त्याग-तपस्या का जीवन जीकर भी अधिक सुखी रह सकता है, यदि वह भावनाओं की दृष्टि से उत्कृष्ट हो। यदि भावनाएँ और आकांक्षाएँ निकृष्ट और अधोगामी हों, तो स्वर्ग में रहकर भी मनुष्य सुखी नहीं रह सकता।

दुःख के बीज हमीं ने बोए

भावनाओं की निकृष्टता और अधोगामिता जहाँ कहीं भी हो, अपना दुष्परिणाम बताती है। यही पाप है और पाप की विभीषिकाएँ कहीं भी हों, मानव समाज को चैन नहीं लेने देतीं और विज्ञान ने पाप और विभीषिकाओं को बढ़ाया ही है। अमेरिका आदि देशों में आत्म-हत्या की प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए, अंग्रेजी के विद्वान् ग्रेगरी कार्सो ने लिखा है कि—"आस्ट्रिया, डेनमार्क, फिनलैंड, पश्चिम जर्मनी, हंगरी, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, जापान आदि में अमेरिका से भी दुगनी आत्म-हत्याएँ होती हैं। फ्रांस में कुछ कम हैं, पर इंग्लैंड और वेल्स उस कमी को पूर्ण कर देते हैं। कनाड़ा,

आइसलैंड, इटली नीदरलैंड, नार्वे, पुर्तगाल, स्काटलैंड और स्पेन में भी आत्म-हत्याओं का जोर है और उसका कारण युद्ध और उसके प्रभाव से उत्पन्न वायुमंडल में भयंकर परिस्थितियों के सूक्ष्म कंपन और भौतिक विज्ञान के द्वारा उत्पन्न दूषित वातावरण अधिक है। सन् १९५२ में अमेरिका में १५४०० आत्म-हत्याएँ हुई। एक लाख लोगों के पीछे १० व्यक्ति केवल आत्महत्या से मरते हैं। यह पचास वर्ष पूर्व की बात है।

कुकृत्यों का लेखा-जोखा हमारा अचेतन मस्तिष्क भी नोट करता रहता है। वहाँ ऐसी स्वसंचालित प्रक्रिया स्थापित है, जो उन पाप-अंकनों के आधार पर दुःख-दंड की व्यवस्थाएँ यथावत् बनाती रहती हैं। शारीरिक और मानसिक रोगों के रूप में, स्वभाव की विकृति के कारण स्वजनों से मनोमालिन्य के रूप में, अपने ही मनोविकारों से उत्पन्न विक्षेपों के रूप में अंतःसंस्थान बेतरह खिन्न उद्विग्न रहता है। बाहर के लोगों को प्रतीत भले ही न हो, पर वह स्वयं अशांत और बेचैन ही बना रहता है। नींद न आने से लेकर घबराहट भरी मनःस्थिति किसी नारकीय दंड से कम नहीं। जेलखानों में भी उतना शारीरिक कष्ट नहीं होता जितना मानसिक विक्षोभ। अपराधी प्रवृत्तियाँ अपने ही अचेतन मन के माध्यम से शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियों से घेर देती हैं और कुकर्मी उस स्वसंचालित विधि-विधान के आधार पर स्वयं ही दंड का भागी बनता रहता है। क्रोध, आवेश, चिंता, भय, हर्षातिरेक, कामोत्तेजना आदि के अवसर पर नाड़ी संस्थान उत्तेजित हो उठता है। रक्तचाप बढ़ जाता है। श्वास की गति तीव्र हो जाती है। त्वचा की उष्णता में बढ़ोत्तरी होती है। यह सर्वविदित है।

चतुर्दिक बढ़ती हुई क्रूरता, हिंसा की प्रवृत्ति, द्वेष दुर्भावना, अशांति और उद्वेगों के कारण तलाशें, तो यांत्रिक सभ्यता से लेकर मानवीय दृष्टिकोण के दूषण तक अनेक कारण उभरते हैं। उसके लिए मनोवैज्ञानिकों के तरह-तरह के विश्लेषण और सुझाव हैं, जिनका सीधा अर्थ यह है कि मानवीय मन को संतुलित, पवित्र,

स्थिर, विवेकपूर्ण और अनुत्तेजनशील बनाया जाए। उसके लिए अनेक तरह के उपाय भी सुझाए जाते हैं, पर वे सब इस तरह हैं जिस तरह पौधे के विकास के लिए पत्तियों पर जल छिड़कना और तने को खाद देना। जड़ को सींचे और बल प्रदान किए बिना पेड़ के विकास और उससे सुंदर फल पाने की कल्पना हास्यास्पद है। उसी प्रकार मन की अपवित्रता और दुर्गुणी होने का कारण क्या है ? उसे जाने और उसके निवारण के उपाय अपनाए बिना अन्य सभी प्रयत्न प्रभावहीन ही बने रहेंगे। भारतीय तत्त्वदर्शियों की इस संबंध में हुई गवेषणाएँ न केवल महत्त्वपूर्ण हैं, अपितु आगे चलकर विज्ञान की शोध का विषय भी बन सकती हैं कि मन का अपना अच्छा-बुरा अस्तित्व पूर्व संस्कारों के आधार पर थोड़ा ही हो सकता है। इस जीवन में उसकी उत्पत्ति आहार से होती है। आहार के अच्छे-बुरे गुण ही मन के अच्छे-बुरे बनने के कारण बनते हैं। वातावरण का प्रभाव, लोगों की संगति, अभिभावकों का संरक्षण और शिक्षा-दीक्षा भी एक अंश तक प्रभावित करती हैं। किंतु मूलतः स्वभाव की जिम्मेदारी उस अन्न पर आती है, जो शरीर के पोषण के नाम पर ग्रहण किया जाता है।

जैसा अन्न वैसा मन

अध्यात्म-विद्या के वैज्ञानिक ऋषियों ने आहार के सूक्ष्म गुणों का अत्यंत गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था और यह पाया था कि प्रत्येक खाद्य पदार्थ अपने में सात्त्विक, राजसिक, तामसिक गुण धारण किए हुए हैं और उनके खाने से मनोभूमि का निर्माण भी वैसा ही होता है। साथ ही यह भी शोध की गई थी कि आहार में **निकटवर्ती स्थिति का प्रभाव ग्रहण करने का भी एक विशेष गुण** है। दुष्ट, दुराचारी दुर्भावनायुक्त या हीन मनोवृत्ति के लोग यदि भोजन पकावें या परसें तो उनके वे दुर्गुण आहार के साथ सम्मिलित होकर खाने वाले पर अपना प्रभाव अवश्य डालेंगे। न्याय और अन्याय से, पाप और पुण्य से कमाए हुए पैसे से, जो आहार खरीदा गया है, उससे भी वह प्रभावित रहेगा। अनीति की कमाई

से जो आहार बनेगा, वह भी अवश्य ही उसके उपभोक्ता को अपनी बुरी प्रकृति से प्रभावित करेगा।

इन बातों पर भली प्रकार विचार करके उपनिषदों के ऋषियों ने साधक को सतोगुणी आहार ही अपनाने पर बहुत जोर दिया है। मद्य, मांस, प्याज, लहसुन, मसाले, चटपटे, उत्तेजक, नशीले, गरिष्ठ, बासी, बुसे, तमोगुणी प्रकृति के पदार्थ त्याग देने ही योग्य हैं। इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के लोगों द्वारा बनाया हुआ अथवा अनीति से कमाया हुआ आहार भी सर्वथा त्याज्य है। इन बातों का ध्यान रखते हुए स्वाद के लिए या जीवन रक्षा के लिए जो अन्न औषधि रूप समझकर, भगवान् का प्रसाद मानकर ग्रहण किया जायेगा, वह शरीर और मन में सतोगुणी स्थिति पैदा करेगा और उसी के आधार पर जीवन में प्रसन्नता व शांति मिलनी संभव होगी।

उपनिषदों में इस संबंध में अनेकों आदेश भरे पड़े हैं। जैसे—

"खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का होता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मल बनता है, जो मध्यम भाग है वह मांस बनता है और जो सूक्ष्म भाग है वह मन बन जाता है। पीया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है, वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है जो सूक्ष्म भाग है वह प्राण हो जाता है हे सौम्य, मन अन्नमय है। प्राण जलमय है। वाक् तेजोमय है।" **—छांदोग्य, अध्याय ६ खंड ५**

अन्न ही बल से बढ़कर है। इसी से यदि दस दिन भोजन न मिले, तो प्राणी की समस्त शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और वे फिर तभी लौटती हैं, जब वह पुनः भोजन करने लगे। तुम अन्न की उपासना करो। यह अन्न ही ब्रह्म है।"

—छांदोग्य, अध्याय ६ खंड ६

"आहार में अभक्ष्य त्याग देने से चित्त, शुद्ध हो जाता है। आहार शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयमेव हो जाती है। जब चित्त

शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता है और अज्ञान की ग्रंथियाँ टूटती जाती हैं। **—पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्**

"आहार शुद्ध होने से अंतःकरण की शुद्धि होती है। अंतःकरण शुद्ध होने से भावना दृढ़ हो जाती है और भावना की स्थिरता से हृदय की समस्त गाँठें खुल जाती हैं— **—छांदोग्य**

तैत्तिरीय उपनिषद् (२.२.१) में इस संबंध में अधिक प्रकाश डाला गया है और आत्म-कल्याण के इच्छुकों को आहार-शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान रखने का निर्देश किया गया है—

अन्माद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथ्वीँ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुज्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते।

"इस पृथ्वी पर रहने वाले समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। फिर अन्न से ही जीते हैं। अंत में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए वे औषधि रूप कहा जाता है। जो साधक अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, वे उसे प्राप्त कर लेते हैं।"

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।
तेनैष पूर्णः स वा एष पुरुषविध एव। —तैत्तिरीय २/२/१२

"इस अन्न-रसमय शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष है, वह अन्न से व्याप्त है। यह प्राणमय पुरुष ही आत्मा है।

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीर मन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति। प्रजया पशुभिब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या। —तैत्तिरीय० ३/७/१२

"अन्न की निंदा न करे, यह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर प्राण पर आधारित है। इसलिए वह अन्न में ही स्थित है। जो

मनुष्य यह जान लेता है कि मैं अन्न में प्रतिष्ठित हूँ वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान् हो जाता है। प्रजावान् हो जाता है, पशुवान् भी। वह ब्रह्मभोज से संपन्न होकर महान् बनता है। कीर्ति से संपन्न होकर भी महान् बनता है।"

आगे चलकर अष्टम अनुवाक में और भी निर्देश है—

अन्नं न परिचक्षीत। तद व्रतम्। ..... अन्न बहु कुर्वीत तद् व्रतम्। (३.८.१ - ३.६.२)

अन्न की अवहेलना न करे। यह व्रत है। अन्न को बहुत बढ़ावे। यह व्रत है।"

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलंभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदित कषायाय तमसस्पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः। —छान्दोग्य० ७.२६.२

"जब आहार शुद्ध होता है तब सत्व यानी अंतःकरण शुद्ध होता है।

अंतःकरण शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि ठीक काम करती है। उस विवेक से अज्ञानजन्य बंधन-ग्रंथियाँ खुलती हैं। फिर परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्ञान नारद को भगवान् सनत्कुमार ने दिया।"

कुधान्य खाकर साधना करने से साधन का इष्ट भी भ्रष्ट हो जाता है और उससे जिस प्रतिफल की आशा की गई थी, वह प्रायः नहीं प्राप्त होता। आत्म विद्या के ज्ञाता सदा से यह कहते आए हैं कि आत्मोन्नति की साधना तक प्रक्रिया में आहार शुद्धि का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि उस ओर ध्यान नहीं दिया जाए और प्राणायाम, प्रत्याहार, नेती-धौति, आदि आगे के क्रियाकलापों में उलझा जाए, तो वह समय पूर्व की बात होगी। अक्षरज्ञान सीखे बिना किसी बच्चे को ज्यामिति के कठिन प्रश्न हल करने को कहा जाए तो यह अनुपयुक्त ही होगा। आहार में मस्तिष्क और भाव स्तर को सात्त्विकता की दिशा में अग्रगामी बना सकने वाले तत्त्वों

से संयुक्त न बनाया जा सके तो भूखे पेट फुटबाल खेलने जैसा उपहासास्पद होगा। आत्मिक प्रगति के लिए आहार शुद्धि पर पूरा-पूरा ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

रसायनशास्त्री मानव शरीर को एक रासायनिक पिंड मानते हैं। मुख की लार से लेकर, पाचन संस्थान में स्रवित होने वाले रसों और हारमोनों तक विविध स्राव, रासायनिक प्रक्रिया ही उत्पन्न करते हैं। स्नायु संस्थान, तंत्रिका जाल और कोशिका समूह में जहाँ विद्युत् धाराएँ अपना काम करती हैं, वहाँ रासायनिक प्रक्रियाएँ भी चलती रहती हैं। अन्न को रक्त के रूप में और रक्त को मांस- मज्जा के रूप में बदलने का काम यही रासायनिक पद्धति करती है, जिसके आधार पर जीवन-क्रम के अन्यान्य सारे क्रियाकलाप निर्भर हैं। श्वास के माध्यम से ऑक्सीजन का शरीर में प्रवेश, रक्त में उसका घुलना और ऊर्जा उत्पन्न करना इसे रासायनिक प्रक्रिया के अतिरिक्त और क्या कहें ?

औषधिशास्त्र मनुष्य की रुग्णता और बलिष्ठता के पीछे रासायनिक हलचलों का कारण ही मानता है। मल परीक्षा, मूत्र परीक्षा, रक्त परीक्षा आदि में यही तो देखा जाता है कि भीतर कौन-सा रसायन घट या बढ़ रहा है। औषधियाँ क्या हैं ? विशुद्ध रूप से रसायन हैं, जो पदार्थ भीतर कम पड़ रहा है या बढ़ रहा है उसे संतुलित करने के लिए ही तो विभिन्न प्रकार के खनिज, क्षार, विटामिन, प्रोटीन आदि शरीर में पहुँचाए जाते हैं। ईंट-चूने से बने मकान की टूट-फूट भी तो आखिर ईंट-चूने से ही सुधारी जाती है। फिर शरीर में आई अव्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए रसायनों के अतिरिक्त और क्या माध्यम हो सकता है ? इसी मान्यता पर समस्त औषधि शास्त्र का निर्माण हुआ है।

अध्यात्मशास्त्र भी मानवी चेतना को परिष्कृत करने के लिए रसायनों का प्रयोग करता है। उसकी मान्यता है कि वस्तुओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह तीन शक्ति होती हैं। अन्न का स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह तीन शक्ति होती हैं। अन्न का स्थूल स्वरूप रक्त-

मांस बनता है। उसके सूक्ष्म रूप से—मस्तिष्क एवं विचार बनते हैं और कारण रूप भावनाओं को विनिर्मित करता है। यदि सड़ा, बुसा, विषाक्त अन्न होगा, तो उससे पोषण तो दूर-उलटे रोग उत्पन्न होंगे। यदि दुष्प्रवृत्तियों के साथ कमाया हुआ और दुष्ट मनुष्यों के हाथ बना, परोसा अन्न होगा, तो उससे मस्तिष्क में दुर्बुद्धि उत्पन्न होगी। इसी प्रकार यदि उसे प्रसाद भावना से पकाया और औषधि भावना से खाया न गया होगा, बनाने और खिलाने वाले की स्नेहसिक्त सद्भावनाओं का समन्वय न होगा, उससे खाने वाले का अंतःकरण विकसित न होगा, उसकी भावनाओं में उच्चस्तरीय उभार न आयेगा। आहार केवल स्थूल दृष्टि से पौष्टिक एवं स्वल्प होना नहीं चाहिए, वरन् उसके पीछे न्यायानुकूल उपार्जन और सद्भावनाओं के समन्वय का भी तारतम्य जुड़ा रहना चाहिए तभी वह अन्न मनुष्य के तीनों आवरणों का समुचित पोषण कर सकेगा और तभी उसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त होगा।

आहार के साथ जुड़े हुए कुछ तत्त्व शरीर-भूमिका से आगे बढ़कर मनःक्षेत्र को प्रभावित करते हैं, इसका प्रमाण वे वस्तुएँ देती हैं जिन्हें नशीली कहते हैं। नशा पदार्थ का सूक्ष्म गुण है। वह रक्त-मांस पर तो प्रभाव डालता ही है, साथ ही मस्तिष्क को, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भी प्रभावित करता है। नशे का प्रभाव होते ही मनुष्य का मस्तिष्क बेकाबू हो जाता है और वह कुछ का कुछ सोचने, देखने, समझने लगता है। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उस नशेबाजी का प्रभाव सेवनकर्ता के गुण, कर्म, स्वभाव पर पड़ता चला जाता है और उसका चरित्र, दृष्टिकोण, स्वभाव आदि का स्तर निरंतर गिरता चला जाता है। ये तथ्य बताते हैं कि आहार का प्रभाव केवल शरीर तक सीमित नहीं है। यह केवल भूख बुझाने, स्वाद देने और रक्त-मांस बनाने की स्थूल शारीरिक क्रिया तक सीमित नहीं रहता, वरन् उसके सूक्ष्म प्रभाव मस्तिष्क को ही नहीं, अंतःकरण को भी प्रभावित करते हैं।

❐ ❐

मांसाहार की घृणित असभ्यता

इन दिनों मांसाहार की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ती जा रही है। लोग स्वाद के वशीभूत होकर मांस-भक्षण करते हों अथवा पौष्टिक-तत्त्वों की प्राप्ति के लिए—इससे आत्मिक स्थिति पर तो बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। नैतिकता की दृष्टि से एवं आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी मांसाहार का औचित्य सिद्ध नहीं होता।

किसी भी दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाए तो किसी भी आधार पर मांसाहार का औचित्य सिद्ध नहीं होता और न ही यह विश्वास किया जा सकता है कि मांस हमारा स्वाभाविक आहार है। प्रथम तो यही कि मांस हमारी आत्मिक स्थिति को पतित और निकृष्ट बनाता है। इसलिए वह हमारा स्वाभाविक आहार नहीं हो सकता। हम इस संसार में सुख-शांति और निर्द्वंदिता का जीवन जीने के लिए आए हैं। आहार हमारे जीवन धारण की सामर्थ्य को बढ़ाता है, इसलिए पोषण और शक्ति प्रदान करने वाला आहार तो चुना जा सकता है, किंतु जो आहार हमारी मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों को नष्ट करता हो, वह पौष्टिक होकर भी स्वाभाविक नहीं हो सकता। हमारे जीवन की सुख-शांति शरीर पर उतनी अवलंबित नहीं, जितनी इनका संबंध मन, बुद्धि और आत्मा की शुद्धता से है। इसलिए जो आहार इन तीनों को शुद्ध नहीं रख सकता, वह हमारा स्वाभाविक आहार कभी भी नहीं हो सकता।

बहुत स्पष्ट बात हैं। जंगल के शेर, चीते, भेड़िए, भालू, लकड़बग्घे मांसाहार करते हैं। इन्हें देखकर लोग कहते हैं कि शक्तिशाली होने के लिए मांसाहार आवश्यक है। उनकी एक दलील वह भी होती हैं कि मांस खाने की प्रेरणा स्वयं प्रकृति ने दी है, समुद्र की बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को, जंगल के बड़े जंतु छोटे जीवों को मारकर खाते रहते हैं। प्रकृति ने मानवेतर प्राणियों की संख्या न बढ़ने देने के लिए ऐसी व्यवस्था की है, पर मनुष्य

उन परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न है, जिनमें अन्य जीव-जंतु जन्म लेते, बढ़ते और विकसित होते हैं। शेर, चीते मांसाहारी होने के कारण बलवान् होते हैं, पर उनमें इस कारण दुष्टता और अशांति से जो संशयशीलता उत्पन्न होती है, वह उन्हें भयग्रस्त और कायर बना देती है। शेर दिन भर भयग्रस्त रहता है। चीते और भेड़िये खूँखार होने के अतिरिक्त हर समय केवल इसी प्रयत्न में रहते हैं कि कहाँ छिपे रहें, जिससे कोई उन्हें देख न लें या मार न डाले। साँप, चलते हुए इतना भयग्रस्त होता है कि सामान्य-सी खुटक या आशंका से भी वह बुरी तरह घबरा जाता है। मनुष्य भी यदि मांसाहार करता है, तो उसमें भी स्वभावतः ऐसी संशयशीलता, अविश्वास और भय की भावना होनी चाहिए। यह बुराइयाँ मनुष्य को सदैव ही अधःपतित करती रही हैं।

द्वेष, घृणा और मनोमालिन्य का बाजार गर्म है। साथ-साथ रहने वाले भी केवल शिष्टाचार का निर्वाह करते हैं। सहानुभूति, स्नेह, सेवा और करुणा के तत्त्व धीरे-धीरे घटते चले जा रहे हैं। अपने आप में सीमित रहने और अपनी सुविधा को ही महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई है कि दूसरे के दर्द में सहायता करना तो दूर-उलटे उसमें रस लेते हुए परपीड़ा को अच्छा-खासा विनोद माना जाने लगा है। अब बड़े जानवर तो शिकार के लिए उतने नहीं मिलते, पर मछली और चिड़ियाँ मारने-पकड़ने को, एक मनोरंजन मान लिया गया है। आर्थिक लाभ के लिए छोटे-बड़े शिकार करने की अपेक्षा उन लोगों की संख्या अधिक है, जो सिर्फ एक खेल की तरह यह सब करते हैं। निशाना साधने का अभ्यास करने के लिए चिड़ियों को फँसाने की कला में प्रवीणता पाने के लिए मछलियों को मारा जाता है।

मांसाहार के पीछे स्वाद की बात प्रधान नहीं होती, क्योंकि वस्तुतः वह फल, मेवा, दूध, घी आदि की तुलना में कहीं अधिक घटिया होता है। गंध तो और भी अधिक घिनौनी होती है। सिद्ध हो चुका है कि मांस की तुलना में सोयाबीन में प्रोटीन अधिक मात्रा में

है और अधिक निर्दोष है। विटामिन ए गाजर जैसे सस्ते पदार्थों में पर्याप्त है। मांस दुष्पाच्य भी है, महँगा भी और पकाने में बहुत झंझट भरा भी। इतने पर भी मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण लोगों में हिंसा के प्रति उत्साह और दूसरों को कष्ट देने में अपना पराक्रम दिखाने की छिपी इच्छा बलवती रहती है। किसी को उजाड़ने, बरबाद करने और पीड़ा में चीत्कार कराने में अपने आपको अधिकारी बताते हुए लोग अपने आपको साहसी, शूरवीर, पराक्रमी, विजेता, प्रगतिशील आदि न जाने क्या-क्या अनुभव करते हैं ? आतंकवाद इसी आधार पर पनपता है। गुंडागर्दी और दुष्टता की घटनाएँ इसी आधार पर होती हैं और इसी प्रवृत्ति से मांसाहार को बढ़ते हुए लोक-उत्साह के साथ जुड़ा हुआ देखा जा सकता है।

मांसाहार के पक्ष में जितनी भी दलीलें प्रस्तुत की जा सकती हैं, उन सबको काट देने के लिए एक ही तर्क बहुत बड़ा है कि उससे निरीह प्राणियों का अकारण विनाश होता है और उसके साधन जुटाने में मनुष्य की सर्वोपरि गरिमा-संवेदना-सहानुभूति को भारी आघात लगता है। निष्ठुरता—संवर्धन की यह क्रिया मनुष्य के स्वभाव का अंग बनती जाती हैं और फिर वह मनुष्य समाज में भी प्रयुक्त होती हैं। लोग परोक्ष रूप से एक दूसरे को जाल में फँसाते और परस्पर रक्तपात करते हैं। इस चपेट में अपना प्रिय परिवार भी आ जाता है। लोग अपने छोटे स्वार्थों के लिए अपने आश्रितों, कुटुंबियों, स्वजनों, मित्रों के हितों का किस प्रकार बलिदान करते रहते हैं, इसके दुःखद दृश्य हम अपने चारों ओर बिखरे हुए पर्याप्त मात्रा में देख सकते हैं और यह अनुमान लगा सकते हैं कि निष्ठुरता किस कदर बढ़ती जा रही है। कहना न होगा कि यदि निष्ठुरता की जड़ मनःक्षेत्र में जम जाएँ तो मनुष्य निकृष्ट कोटि का स्वार्थी बन जायेगा और फिर सहज ही आक्रामक बनने के लिए तत्पर रहेगा। स्नेह-सौजन्य की घटती हुई संवेदनाएँ, वस्तुतः मानवी जीवन को नीरस, कर्कश, कलहग्रस्त और असुरक्षित बनाती

हैं, इसमें समस्त समाज के लिए, समस्त संसार के लिए भयंकर संभावनाओं के विष बीज छिपे हुए हैं।

शक्ति भी कहाँ मिलती है ?

मांसाहार से शरीर में शक्ति आती है, यह ख्याल करना बिलकुल गलत है। कुछ दिन पूर्व कानपुर के किन्हीं ऐसे दो अखाड़ों के पहलवानों में कुश्तियाँ हुईं, जिसमें एक अखाड़े के पहलवान अधिकांश मुसलमान थे और मांस-भक्षण करते थे और दूसरे में सब हिंदू थे, जो विशुद्ध दूध, फल, घी और मेवों का इस्तेमाल करते थे। इस प्रतियोगिता में उस समय लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मुसलमान पहलवानों में से एक भी विजयी नहीं हुआ, जबकि देखने में वे अधिक मोटे ताजे थे। इस घटना से अखाड़े का उस्ताद इतना प्रभावित हुआ कि उसने तमाम मुसलमान पहलवानों का मांसाहार बंद करा दिया।

सन् १८६८ में एक ऐसी ही प्रतियोगिता जर्मनी में हुई। इसमें मांसाहारियों और शाकाहारियों में सत्तर मील पैदल चलने की होड़ हुई। प्रतियोगिता में बीस मांसाहारी थे, ६ शाकाहारी। शाकाहारी मांसाहारी से बहुत पहले गंतव्य स्थान पर पहुँच गये। सबसे कम समय, १४ घंटे में सत्तर मील की दूरी तय करने वाला शाकाहारी ही था।

सन् १८६६ में क्वेटा नामक एक स्थान में एक ऐसी ही दिलचस्प रस्साकसी प्रतियोगिता रखी गई। इसमें एक ओर मांसाहारी अंग्रेज थे, दूसरी ओर सिख रेजिमेंट के निरामिष जवान। कुछ देर की खींचतान के बाद अंग्रेज जवानों के हाथ छिल गये और उन्हें रस्सा छोड़ना पड़ा। शाकाहारी जवानों की उसमें जीत हुई। इस प्रकार के कई उदाहरण हैं, जो पुष्ट करते हैं कि शाकाहारी अधिक शक्तिशाली होते हैं।

मांस में स्थूलता बढ़ाने वाले तत्त्व हो सकते हैं, पर दुर्बुद्धि, क्रोधी स्वभाव, असहिष्णुता, आलस्य, कोष्ठबद्धता, अमानवता जैसे

दुर्गुण भी मांसाहार में ही होते हैं। मानव अंतःकरण को प्रिय लगने वाले समस्त गुण शाकाहार से उपलब्ध होते हैं—यह बात प्रकृति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

स्वामी वीर जी एक बार शाकाहार के समर्थन में व्याख्यान दे रहे थे—"बैल और घोड़े शाकाहारी जीव हैं, उनमें बोझा ढोने और दौड़ने की शक्ति सर्वाधिक होती है। घोड़े की शक्ति तो मशीन से भी बढ़कर होती है। यदि मनुष्य केवल एक ही आहार भर पेट लेता रहे, तो वह घोड़े की तरह मशीनों को भी परास्त करने वाला हो सकता है।"

"हाथी का बल विख्यात है, वह भी शाकाहारी ही होता है"—इस पर एक मांसाहारी सज्जन ने तर्क किया कि यदि हाथी अधिक बलवान् होता है, तो शेर उसे क्यों परास्त कर देता है ?—श्री वीर जी ने कहा—यदि आपके मन में यही भ्रम है, तो आपको जानना चाहिए कि शेर को तो सुअर परास्त कर देता है, जबकि शेर मांसाहारी होता है और सुअर अमांसाहारी। शेर आवेश, छल और धोखे से आश्चर्यचकित करने वाले आक्रमण के कारण कभी हाथी को जीत लेता हो, वह बात अलग है सीधे मुकाबले में हाथी का कभी भी शेर मुकाबला नहीं कर सकता। एक और भी बात यह है कि हाथी पत्ता, घास, छाल, फल, दाना चाहे जो कुछ पा जाए खा जाता है। तमाम तरह का आहार ठूँसते रहने के कारण वह जितना बलवान् होता है, उतना बुद्धिमान् नहीं, शेर बुद्धिमान् होता है। इसलिए भी वह एकाएक हमले में जीत सकता है, पर हाथी के मुकाबले वह देर तक ठहर नहीं पाता।

इंग्लैंड के प्राणिशास्त्री डॉ० इयेन हैमिल्टन ने अफ्रीका में रहकर लंबे समय तक हाथियों के जीवन का अध्ययन किया। वे दुनिया के सबसे बड़े हाथी विशेषज्ञ माने जाते हैं। वे लिखते हैं कि हाथी से शेर कभी जीत जाता हो यह अलग बात है, वरना हाथी कभी शेर से डरता नहीं। एक बार मैंने देखा कि एक शेर ने हाथी के एक बच्चे पर धोखे से हमला कर दिया—उसकी माँ पास ही

थी, वह दौड़ी और सिंह से भिड़ गई और उसे पाँवों से रौंदकर मार डाला। सत्य यह है कि शेर हाथी से डरते हैं और उनसे सीधे मुकाबले से सदैव कतराते हैं।"

शक्ति की अपेक्षा मानवीय गुणों का महत्त्व अधिक है। गुणों पर ही व्यक्ति, परिवार समाज और विश्व की सुख-शांति आधारित हैं। जहाँ मांसाहार दुर्गुणों का पोषण करता है, वहाँ शाकाहार सद्गुणों की रक्षा और विकास। इसलिए मांसाहार मानवता का पाप है, वहीं शाकाहार एक पुण्य भी। ऊँट शाकाहारी जीव है। वह सर्वाधिक सहिष्णु होता है। सर्प मांस खाता है, इसीलिए क्रोधी, आलसी और चिड़चिड़े स्वभाव का होता है, जबकि फुदकती रहने वाली क्रियाशील गिलहरी शाकाहारी होती है। समय पर यदि क्रोध और युद्धप्रियता अनिवार्य हो, तो वह भी शाकाहार में हैं। भैंसा शाकाहारी जीव है, उसकी युद्धप्रियता और क्रोधी स्वभाव के आगे शेर तक हार मानते हैं। हिरण के शरीर जैसी लचक, खरगोश जैसे जीव की उछाल और मेढ़ें की-सी प्रतिद्वंद्विता की शक्ति मांसाहारी जीवों में नहीं होती, इससे यह सिद्ध होता है कि मानवता की रक्षा वाले सभी गुण शाकाहार में हैं, मांसाहार में नहीं।

मांसाहार मनुष्य की आत्मिक और शारीरिक दोनों ही प्रकृतियों के विपरीत है। मानवी अंतरात्मा दयालु तत्त्वों से बनी हुई है। किसी कष्ट पीड़ित को देखकर उसमें सहज करुणा उत्पन्न होती है। दूसरों के दुःख में दुःखी और दूसरों के सुख में सुखी होने की उसकी आंतरिक विशेषता है। इसे वह हटा-मिटा नहीं सकता।

प्राणियों का प्राण हरण करके अपने लिए भोजन जुटाने में उसकी आत्म-सत्ता व्यथित एवं उद्विग्न ही हो सकती है। स्वाद, बल आदि का कोई भी बहाना क्यों न बनाया जाए, आत्मग्लानि और आत्म-प्रताड़ना को शांत नहीं किया जा सकता है। जबकि मांस से भी अधिक बलवर्धक और स्वादपरक पदार्थ संसार में प्रचुर परिमाण में एवं सस्ते मूल्य में उपलब्ध हैं, तब मांस की ओर

लपकना केवल आसुरी वृत्ति को तुष्ट करना ही एकमात्र कारण हो सकता है। ऐसे लोगों की अंतःचेतना सदा अपने को अपराधी ही अनुभव करती रहेगी। पुण्य-पाप की मान्यता मात्र धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर ही नहीं, मनःशास्त्र के आधार पर भी खरी सिद्ध होती है। आत्म-हनन करने वाले अनेक अप्रत्यक्ष आधारों पर आधि-व्याधियों से ग्रसित होते रहते हैं और अपने कुकर्मों का समुचित दंड भोगते रहते हैं।

भौतिक दृष्टि से—शरीर रचना के साथ आहार की संगति बिठाने वाली प्रकृति-व्यवस्था की दृष्टि से भी मांसाहार मनुष्य प्राणी के लिए किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं बैठता। मनुष्य की शरीर रचना शाकाहारी प्राणियों जैसी है, मांसाहारियों जैसी नहीं।

मांस पौष्टिक और मनुष्य के लिए उपयोगी खाद्य-पदार्थ है, इस मूढ़ मान्यता को अब वैज्ञानिक शोधें निरंतर झुठला रही हैं और बता रही हैं कि वह अखाद्य है, अभक्ष्य है। इसे खाकर लोग स्वास्थ्य बढ़ाते नहीं गँवाते ही हैं।

अमेरिका के आहारशास्त्री एल० एच० एन्डरसन ने अपने भोजन-विज्ञान संबंधी ग्रंथ में लिखा है—"हम सभ्यताभिमानियों के हाथ, मूक और उपयोगी पशुओं के रक्त से रंगे हैं। हमारे माथे पर उनके खून का कलंक है। हमारा पेट एक घिनौना कब्रिस्तान है। शरीर की दुर्गंध हमारे मुख से निकल रही है। क्या यही मानवोचित आहार है ? आहार के नाम पर परमात्मा की हँसती-खेलती कृतियों को चीत्कार भरे क्रंदन में धकेल देना—यह भूख बुझाना नहीं, राक्षसी वितृष्णा का परिपोषण करना है।"

☆ प्रकृति के भी विपरीत

मनुष्य की प्रकृति शाकाहारी है या मांसाहारी, इसका पता लगाना हो, तो उसकी शरीर रचना पर ध्यान देना होगा। शाकाहारी प्राणियों की आँतें लंबी होती हैं और मांसाहारियों की अपेक्षाकृत छोटी। मनुष्य की आँतें बंदर जैसे शाकाहारियों के स्तर की होती

हैं। शाकाहारियों की आँतें उनके शरीर की लंबाई में २२ प्रतिशत होती हैं और मांसाहारियों की ५ प्रतिशत। अन्नाहार करते-करते मनुष्य की आँतें घास खाने वालों की तुलना में कुछ छोटी अवश्य हो गई हैं, फिर भी १२ प्रतिशत से कम नहीं होतीं। ऐसी दशा में उसे मांसाहारी वर्ग में नहीं गिना जा सकता।

भोजन करने के प्रधान माध्यम दाँत हैं। उन्हीं से वह कुचले और चबाये जाने के उपरांत पचने योग्य बनता और पेट में जाता है। प्रकृति ने निर्धारित आहार के अनुरूप दाँतों की संरचना की है। बाघ, चीते, कुत्ते, बिल्ली आदि के दाँत मांस को नोंच-नोंच कर खाने योग्य नुकीले बनाए गए हैं और चीर-फाड़ के लिए दो दाँत अधिक बड़े और अधिक मजबूत बनाए गए हैं। इसके विपरीत शाकाहारी गाय, बकरी, घोड़ा, गधे आदि के समतल और छोटे होते हैं। मनुष्य की दंत-रचना भी शाकाहारी वर्ग की है। इसके अतिरिक्त मांसाहारी जीवों के दाँत लंबे, नुकीले और कुछ पीछे की ओर मुड़े होते हैं, ताकि वे शिकार को पकड़ने और मारने में सफल हो सकें। उनके जबड़े ऊपर-नीचे उठ-बैठ सकते हैं; इधर-उधर घूम नहीं सकते। उनकी लार में स्टार्च पचाने के लिए आवश्यक एन्जाइम और टियालिन बहुत कम होते हैं। इसके स्थान पर उनकी पाचन ग्रंथियों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड मिला रहता है। इसके कारण शिकार की हड्डियाँ भी मांस की तरह ही लचीली बन जाती हैं। शाकाहारियों की डाढ़ें अधिक होती हैं, ताकि वे वनस्पति आहार को चबा सकें। इन कसौटियों पर कसने में मनुष्य विशुद्ध शाकाहारी सिद्ध होता है, उसकी शरीर रचना में प्रकृति ने एक भी विशेषता वैसी पैदा नहीं की है, जो मांसाहारियों में पाई जाती है।

मांसाहारी प्राणियों के बच्चे आँख मूँदें पैदा होते हैं। शाकाहारियों की आँखें खुली होती हैं।

मांसाहारियों के शरीर से पसीना नहीं निकलता, उनकी जीभ तथा पैरों के तलवों से पसीना आता है।

मांसाहारी जीभ से चाट-चाटकर पानी पीते हैं और शाकाहारी घूँट-घूँटकर पीते हैं। उनकी आँख इस तरह की बनी होती हैं कि अँधेरे में भली प्रकार देख सकें। शाकाहारी जैसा दिन में देख पाते हैं वैसा उनकी आँखें रात में नहीं देख सकतीं। मांसाहारियों की आँखें अँधेरे में चमकती हैं, शाकाहारियों की नहीं।

मांसाहारी जानवरों के बच्चे जन्मते समय आँख बंद किए हुए पैदा होते हैं, कई दिन बाद उनकी आँखें खुलती हैं। शाकाहारियों के बच्चे आँख खोले पैदा होते हैं। मनुष्य ऐसा ही है।

मांसाहारी जीवों के शरीर से पसीना नहीं निकलता, इसलिए उससे तेज गंध आती रहती है। शाकाहारियों के शरीर से पसीना निकलता है।

मांसाहारी जीभ लपलपाते हुए चप-चप करके पानी पीते हैं। इसके विपरीत शाकाहारी घूँट भरकर पीते हैं।

शाकाहारी रात में सोते और दिन में जागते हैं। इसके विपरीत मांसाहारी सोते, बेखबर प्राणियों को पकड़ने के लिए रात में विचरते हैं। अस्तु, उनकी आँखें अँधेरे में देख सकने योग्य चमकीली होती हैं। शाकाहारियों की आँखें दिन में और मांसाहारियों की रात में काम कर सकने योग्य बनी होती हैं। मनुष्य की आँखें दिवाचरों की तरह ही बनी हैं।

मांसाहारी शिकार के शरीर को अपने दाँतों और पंजों से दबोच सकते हैं, फाड़-चीर करके खा सकते हैं और कच्चा मांस पचा सकते हैं। ऊपर से चमड़ी-बाल आदि उतारने की जरुरत नहीं पड़ती, भेड़िये तो हड्डी तक पचा जाते हैं। शाकाहारी वैसा नहीं कर सकते। मनुष्य के लिए बिना पका मांस पचाना संभव नहीं। हड्डी, आँतें, बाल, चमड़ी आदि अनेक भाग हटाकर वह केवल मांस पेशियाँ ही पकाकर खा पाता है, उसकी मूल प्रकृति मांसाहारियों जैसी है ही नहीं।

'मनुष्य' प्रकृतितः शाकाहारी है। वनस्पतिभोजी प्राणियों के दाँत चौड़े और आँतें लंबी होती हैं, उन्हें आहार के पचाने में देर लगती है तथा सड़न का खतरा कम है, इसलिए लंबी आँतों की आवश्यकता समझी गई और वैसा ही पेट बन गया। वनस्पति खाने के लिए—कुतरने-चबाने के लिए जिस प्रकार के दाँत चाहिए, वैसे चौड़े दाँत मनुष्य के हैं। मांसाहारियों की स्थिति भिन्न हैं। मांस चीरने-फाड़ने के लिए नुकीले दाँतों और पकड़ने-कसने वाले होंठों की आवश्यकता रहती है। मांस पेट में पहुँचने पर जल्दी सड़ता है—उसे जल्दी निकाल बाहर करना आवश्यक होता है। अस्तु हिंस्र प्राणियों की आंतें छोटी होती हैं। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणियों की स्थिति में भिन्नता स्पष्ट है। मनुष्य यदि अपनी शाकाहारी जाति छोड़कर मांसाहारी आदतें बदले, तो प्रकृति उसके अवयवों को उसी आधार पर बदल देगी। तब हमारी आँतें छोटी हो जायेंगी और दाँत नुकीले। मल-विसर्जन अबकी अपेक्षा अधिक जल्दी जल्दी करना पड़ेगा। इस परिवर्तन से वनस्पति पचाने वाले संस्थान से वंचित होना पड़ेगा। यदि उभयपक्षी क्रम अपनाया गया तो दोनों में से एक भी स्तर स्थिर न रहेगा और स्थिति अधर में लटक जाएगी। वर्तमान नीति शाकाहार और मांसाहार मिलाकर चलने की—प्रकृति के द्विपक्षीय वर्गीकरण में से एक को भी स्वीकार न करने से विचित्र स्थिति बन जाएगी। तब हमारा पेट न शाकाहार पचाने की स्थिति में रहेगा और न ठीक तरह से मांस ही हजम होगा। यदि परिवर्तन ही अभीष्ट हो, तो शाकाहार छोड़कर मांसाहार को पूरी तरह अपना लिया जाए। चीते, भेडिये, बाज, गिद्ध जैसे पशु-पक्षी विशुद्ध मांसाहारी होने से अपनी शारीरिक स्थिति ठीक बनाए हुए हैं। बंदर, गाय, घोड़े जैसे शाकाहारी प्राणी भी अपना अस्तित्व ठीक से बनाए रहेंगे। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो आरंभ से ही शाक और मांस पचाने की प्रकृति लेकर आए हैं, उनकी संरचना मध्यवर्ती है। पर मनुष्य पर यह मध्यवर्ती

कानून लागू नहीं होता। चीता घास पर रहेगा या गाय मांस खाएगी, तो उसे अपने वर्तमान स्तर को समाप्त ही करना पड़ेगा। मनुष्य की दुमुँही नीति उनको अंततः घातक ही सिद्ध होगी।

शाकाहारी प्राणी प्रातः उठते और संध्या होते ही विश्राम करने लगते हैं। मांसाहारी दिन में पड़े सुस्ताते रहते हैं और रात्रि होते ही अपने आहार की तलाश में निकलते हैं। दोनों ही जाति वाले अपने काम करने और विश्राम करने की मर्यादा का पालन करते हैं, फलतः वे अपनी शारीरिक स्थिति सही बनाए रहते हैं। मनुष्य ने दिन को रात तो उतना नहीं बनाया, पर रात्रि को दिन बनाने की दिशा में अति बरतना आरंभ कर दिया है, बहुत रात्रि बीत जाने तक जागना, तरह-तरह के आवश्यक-अनावश्यक कामों में उलझे रहना, आर्थिक एवं मनोरंजन की दृष्टि से लाभदायक हो सकता है, पर स्वास्थ्य संतुलन पर उसका घातक प्रभाव पड़ना निश्चित है।

प्रकृति ने प्राणियों को सुविधा-साधनों के अजस्र अनुदान दिये हैं। पर साथ ही मर्यादापालन और अनुशासन बरतने के लिए उन्हें बाध्य भी किया है। उच्छृंखलता बरतकर तत्काल तो कुछ पाया भी जा सकता है, पर अंततः वह बहुत ही घाटे का सौदा सिद्ध हो सकता है। मनुष्य बुद्धिमान् तो है, पर प्रकृति के नियमों को चुनौती देकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परस्पर उच्छृंखलता बरतने की भी प्रतिक्रिया होती है, फिर प्रकृति के अनुशासन को तोड़ना तो आग से खेलने की तरह है। रात्रि में देर तक जागने और तेज प्रकाश का आश्रय लेने पर हम नेत्रों की शक्ति को ही नहीं गँवाते, वरन् पूरे स्वास्थ्य-संतुलन पर ही कुठाराघात करते हैं। इस प्रकार हम अपने स्वाभाविक आहार को छोड़कर अप्राकृतिक भोजन-मांसाहार की आदत बनाकर प्रकृति की मर्यादाओं की उपेक्षा ही करते हैं।

इसके अतिरिक्त परीक्षणों के दौरान यह भी देखा गया कि मांसाहारी जीवों को शाकाहारी भोजन देने से उनकी प्रकृति में भी परिवर्तन आता देखा गया। फूड एंड एनिमल नामक एक पुस्तक में इंग्लैंड के प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ० एडवर्ड [illegible]खा है कि—

"कई मांसाहारी जीवों को कुछ दिना के लिए मांस देना बिल्कुल बंद कर दिया गया। इस अवधि में निर्वाह के लिए उन्हें घास, सब्जी और फल खाने को दिए गए। देखा गया कि ऐसा करने से कुछ दिन में ही इन जानवरों का उतावलापन मंद पड़ गया, वे काफी शांत रहने लगे, कम हिंसक हो चले।"

"एक दूसरे कमरे में कुछ शाकाहारी जीवों को रखकर उन्हें मांसाहार के लिए विवश किया गया। उनमें से कुछ ऐसे थे जिन्होंने तो आमरण अनशन ही कर दिया, उन्होंने मांस को सूँघा तक नहीं। अंत में परीक्षण के लिए उन्हें अम्लीय (एसिडिक) आहार दिया गया। इससे उन पर बड़े दूषित प्रभाव दिखाई दिए, उनकी पाचन क्रिया अवरुद्ध हो गई और कई तरह के रोगों ने घेर लिया। उनमें अधिक स्वार्थपरता आ गई, उनका सौम्य स्वभाव नष्ट हो गया, वे गुर्राने और काटने तक लगे। पहले उनके पास जाने में उन्हें कोई भय नहीं लगता था। वे सकरुण आँखों से देखते रहते थे। पर इस तरह के प्रयोग के बाद उनमें संशयशीलता की मात्रा एकाएक बहुत अधिक हो गई।"

❐ ❐

स्वास्थ्य के लिए भी मांसाहार प्रतिकूल

मांसाहार का दुष्प्रभाव मनुष्य की आत्मिक प्रगति पर तो पड़ता ही है, स्वास्थ्य के लिए भी वह कोई लाभप्रद नहीं है और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हो भी, तो उसे मानवता के आधार पर उचित नहीं कहा जा सकता। कौन बीमार व्यक्ति अपने भाई-बहिनों परिवारजनों को मारकर, उनका मांस खाकर स्वस्थ होना चाहेगा ? स्थूल दृष्टि से भले ही जीव-जंतु अपने परिवार के न दिखें, परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से तो वे एक पिता की, परमात्मा की संतान होने के कारण मनुष्य के सगे भाई ही हैं। इसलिए स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होने पर भी मांसाहार का समर्थन नहीं किया जाता। किंतु स्वास्थ्य के लिए भी मांसाहार उपयोगी कहाँ है? अधुनातम विज्ञान की शोध से पता चला है कि मांसाहार स्वास्थ्य के लिए आवश्यक नहीं है। यही नहीं न केवल अनावश्यक वरन् हानिकारक भी है।

यद्यपि किसी भयंकर रोग से ग्रसित होकर अधिकांश रोगी जब किसी चिकित्सक के पास उपचार हेतु जाते हैं, तो वे स्वास्थ्य लाभ तथा शक्ति-संवर्द्धन हेतु मांस तथा अंडा खाने के लिए परामर्श देते हैं। सामान्य बुद्धिजीवी वर्ग के मस्तिष्क में भी यह भ्रांति धारणा घर कर गई है कि स्वास्थ्य की रक्षा तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए मांसाहार आवश्यक है, पर वास्तविकता इसके परे है।

शरीर विज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है कि शरीर को शक्ति और स्फूर्ति उस खाद्य पदार्थ से प्राप्त होती है, जिसे पाचन संस्थान ठीक से पचा लेता है। मांस का ७५% भाग हानिकारक तथा गंदा पानी होता है। यह शरीर को दूषित करता है। मांस गरिष्ठ पदार्थ है, जो देर में ही नहीं पचता, अपितु इसका कुछ भाग बिना पचा भी रह जाता है, जो आँतों में चिपककर सड़ने लगता है। शाकाहार की अपेक्षा मांसाहार को पचाने के लिए जिगर

को कई गुना अधिक श्रम करना पड़ता है, जिससे जिगर की कार्यक्षमता कुप्रभावित होती है। मांस में पाये जाने वाले फासफोरस का विघटन करने के लिए जितने कैल्सियम की आवश्यकता पड़ती है उतना शरीर में नहीं होता अतः अलग से कैल्सियम के लिए विटामिन डी की आवश्यकता होती है।

मांस, शराब और चाय की तरह एक उत्तेजक पदार्थ है; जिसके खाने के बाद एक प्रकार की स्फूर्ति अनुभव होती है, पर यह स्फूर्ति मांसाहार की नहीं, वरन् पूर्व में किए गए सुपाच्य भोजन की होती है। मांसाहार शरीर में आवश्यकता से अधिक ताप उत्पन्न करता है। जिससे मनुष्य सुस्त तथा आलसी बन जाता है। उसकी बुद्धि की प्रखरता भी समाप्त हो जाती है। अधिकतर व्यक्तियों को मांस खाने के बाद चाय, कॉफी या मदिरा जैसे किसी उत्तेजक पदार्थ की आवश्यकता अनुभव होती है।

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक जानकीशरण वर्मा ने मांसाहार की हानियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"मांस हानिकारक इसलिए है कि जानवर के शरीर के बहुत से टूटे-फूटे रेशे, खून के विकार और जहरीले पदार्थ उसमें रह जाते हैं। जिस समय जानवर मारे जाते हैं उस समय मरने के डर से भी उनके खून में जहर पैदा हो जाता है। इन सब बातों के फलस्वरूप आगे चलकर मांस खाने वालों के शरीर में बहुत तरह के विकार एकत्र हो जाते हैं। मांस का सूप जिसे डॉक्टर लोग बहुत अच्छा बताते हैं, अनेक प्रकार, विषों से भरा होता है। उससे रोगी को पहले शक्ति मिलती-सी प्रतीत होती है, किंतु पीछे विषों के संचय के कारण अनेक भयंकर रोग पल्ले पड़ जाते हैं। यूरोप और अमेरिका में भी मांसाहार का प्रचलन कम होता जा रहा है। वहाँ तो सफेद डबल रोटी और बिस्कुट का रिवाज भी कम हो रहा है, पर विलायत की दुम हिंदुस्तान में वहाँ की छोड़ी हुई चीजें भी बहुत दिनों तक जारी रहती हैं।"

औषधियाँ भी शीघ्र प्रभावी, यदि.....

जर्मनी की होम्योपैथिक चिकित्सक एलिजाबेथ बेगेन मांस को विलासिता की वस्तु तथा जीवन के लिए अनुपयोगी मानती हैं। उन्होंने अपने रोगियों पर यह अनुभव करके देखा है कि जिन व्यक्तियों का जीवन सात्त्विक, पवित्र तथा स्वास्थ्यवर्द्धक है और जो मांसाहार से बचे हुए हैं, उन पर होम्योपैथिक औषधियाँ शीघ्र और स्थायी प्रभाव डालती हैं। ऐसे व्यक्तियों पर संक्रामक रोग के कीटाणु शीघ्र आक्रमण नहीं कर पाते। मांसाहारी रोगी को शक्तिशाली औषधियाँ सेवन हेतु देनी पड़ती हैं, फिर भी रोग घटने के स्थान पर बढ़ने लगता है। इसीलिए पश्चिमी देशों के अस्पताल स्थायी रोगों से पीड़ित रोगियों से भरे पड़े हैं।

भारत आगमन पर जब यहाँ की पाठ्य पुस्तकों में श्रीमती बेगेन ने मांस और मछली की उपयोगिता पढ़ी, तो वे दंग रह गईं। उस समय उनके मुँह से यही निकला कि मांस के बिना भी जीवन को स्वस्थ, मितव्ययी और श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। जिन देशों में कसाईघरों की संख्या अधिक है, वहाँ पर युद्ध और अपराधों की संख्या में वृद्धि हो रही है। शाकाहार, जीवन को स्वस्थ ही नहीं बनाता, वरन् जीवधारियों की निर्मम हत्या के विरुद्ध स्वस्थ वातावरण निर्मित करता है।

आस्ट्रिया के खाद्य रसायनशास्त्री फ्लेश एंड्रियल से जब उनके स्वस्थ रहने का रहस्य पूछा गया, तो उन्होंने बताया—"मैं विगत ४५ वर्षों से शाकाहारी हूँ, इस बीच मैं केवल एक दिन के लिए बीमार पड़ा हूँ। जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि मांस में पोषक तत्त्व अधिक होते हैं, उन्हें अब अपनी धारणा बदल देनी चाहिए, क्योंकि वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद यह कहा जा सकता है कि पशु के मांस में २०% प्रोटीन तथा ८०% पानी और चर्बी पदार्थ होता है, जबकि अन्न में १०% प्रोटीन, ७०% स्टार्च और शेष पानी होता है। शरीर को प्रति किलोग्राम वजन के लिए केवल ०.५ ग्राम प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी का वजन

६० किलोग्राम है, तो उसे ३० ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन चाहिए। इतना प्रोटीन आसानी से अन्न, हरी सब्जी, फल तथा दूध से प्राप्त किया जा सकता है। पत्ते वाले साग और साबित अन्न में अधिक प्रोटीन होता है। रक्त निर्माण के लिए साग और अन्न से मिलने वाला प्रोटीन मांस की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

कब्ज, कैंसर और अनेक मानसिक रोगों का जन्मदाता मांसाहार ही है। विश्व स्तर पर आयोजित ओलंपिक खेलों में भाग लेने वाले खिलाड़ियों पर किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि शाकाहारी मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं। भोजन का संबंध केवल शरीर से ही नहीं, वरन् मन और मस्तिष्क से भी होता है। अधिकतर पालतू पशु शाकाहारी ही होते हैं। घोड़ा, गधा, गाय, भैंसें, बैल, ऊँट, हाथी और बकरी आदि कितने ही पशु अपने शांत स्वभाव और स्वामीभक्ति के कारण आसानी से पालतू हो जाते हैं और व्यक्ति को उत्पादन के विविध कार्यों में अपना पूरा-पूरा सहयोग देते हैं।

योगशास्त्र और आयुर्वेद के सिद्धांतों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि शुद्ध-सात्त्विक, अन्न, फल, दूध और साग-सब्जी आदि से बना भोजन करने वाले तथा मांस, अधिक मसाले, उत्तेजक पदार्थ तथा चर्बीयुक्त भोजन करने वाले व्यक्तियों की शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षमताओं में अंतर पाया जाता है। इसीलिए भोजन का सीधा संबंध शरीर से ही नहीं, वरन् मन और मस्तिष्क से भी होता है। 'जैसा खाए अन्न वैसा बने मन' वाली कहावत गलत नहीं है। डॉ० हेग ने 'खाद्यपदार्थ और भोजन' नामक पुस्तक में लिखा है—'मांस भक्षण करने वाला व्यक्ति सर्वतोभावेन अपने शरीर का विनाश करता है। बुद्धि के तमोगुणी हो जाने से विवेकाविवेक का ध्यान नहीं रहता। इसी से समाज के सात्त्विक आहार ग्रहण करने वाले व्यक्तियों के विचारों से इनका मेल नहीं हो पाता।"

विदेशों में अनेक चिकित्सक अपनी चिकित्सा पद्धति में शाकाहारी भोजन को स्थान देकर रोगियों का उपचार करने लगे हैं। वे रोगी को संतुलित शाकाहारी भोजन देकर उसके रोग को समूल नष्ट करने का प्रयोग कर रहे हैं। ऐसे चिकित्सकों में पश्चिम जर्मनी की महिला चिकित्सक गटुई स्मदिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने २२ रोगी बच्चों पर अपने प्रयोग किए। उन्हें विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ थीं, वे सब शाकाहारी भोजन के सहारे स्वस्थ हो गए। एक बच्चा जो दमे का रोगी था, वह चार दिन में ही इतना स्वस्थ हो गया कि दौरे पड़ने बंद हो गए। इस बीच किसी को सर्दी नहीं हुई। त्वचा भी सुंदर और चिकनी हो गई।

अर्द्ध विकसित बच्चों के भोजन में जब हेर-फेर किया गया तो उनकी अस्थियों, दाँतों, बालों और मांस-पेशियों का विकास संतुलित ढंग से होने लगा। टी० बी० और मानसिक रोगियों तक ने शाकाहारी भोजन से लाभ उठाया। वृद्ध व्यक्तियों पर शाकाहारी भोजन के प्रयोग से जो परिणाम देखने को मिले वे आश्चर्यजनक थे। थोड़े ही दिनों में उनकी शारीरिक दुर्बलता दूर हो गई और उनकी नेत्र ज्योति में भी वृद्धि हुई। थोड़े ही समय में वे इतने स्वस्थ हो गए कि अपना दैनिक कार्य बिना किसी कष्ट के आसानी से कर सकते थे।

डॉ० स्मदिक ने शाकाहारी भोजन में सभी प्रकार के पोषक तत्त्वों का पूरा-पूरा ध्यान रखा था। भोजन में दुग्ध, अन्न, ताजे फल, हरी सब्जी, सलाद आदि शाकाहारी वस्तुओं को सम्मिलित किया था। उन्होंने नाश्ते में सफेद शक्कर तथा मिठाइयों को कोई स्थान नहीं दिया था।

यदि हम आर्थिक दृष्टि से भी देखें, तो पता चलेगा कि मांसाहार अधिक खर्चीला भोजन है। मिर्च, मसालों, तेल और घी का भी काफी खर्च इसके साथ जुड़ा हुआ है। लोगों का कहना है कि घर में जिस दिन मांस बनता है, उस दिन सामान्य दिनों की

अपेक्षा रोटियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। फिर हम मांसाहार द्वारा खाद्यान्न की समस्या को कैसे सुलझा सकते हैं ? अमेरिका की एक सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार यह कहा जा सकता है कि मांस-भक्षण करने वाले प्रति व्यक्ति पर जितना खर्च आता है उससे शाकाहार करने वाले कम से कम तीन व्यक्तियों का भोजन हो सकता है।

मांस की उत्पत्ति किसी वनस्पति, वृक्ष या पत्थर की खान आदि से नहीं होती। इसका सीधा संबंध जीव की हत्या से है। इसलिए महाभारतकार ने मांसाहारी को महापातकी बताया है—

'न हि मांसं तृणात् काष्ठात्उपलाद्वापि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्वोषस्तु भक्षणे।।

(अनु० ११५-२६)

शाकाहार और मांसाहार का तुलनात्मक अध्ययन करने में अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग लगा देने वाले योरोपीय शोधकर्ताओं में डॉ० होग, प्रो० वेल्व, एफ० ई० निकोलस, एरनाल्ड इहरिट, के नाम प्रख्यात हैं। उन्होंने अपने निष्कर्षों में एक स्वर से स्वीकार किया है कि मांसाहार की पौष्टिकता और उपयोगिता के बारे में जो अंध-विश्वास फैला हुआ है, वह निरर्थक है। शाकाहार की तुलना में वह कहीं अधिक दुष्पाच्य है, साथ ही उससे जो कुछ शरीर को प्राप्त होता है, वह स्तर की दृष्टि से बहुत ही घटिया होता है और विजातीय द्रव्य में परिणत होकर नाना प्रकार से अस्वास्थ्यकर उपद्रव खड़े करता है।

कहाँ है जीवन तत्त्व ?

मांसाहार के पक्ष में यह दलील दी जाती है कि उसमें प्रोटीन और चिकनाई अधिक रहने से वह शरीर के लिए अधिक पोषक सिद्ध होता है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं, जो कतिपय शाकाहारी खाद्य पदार्थों में मांस से भी कहीं अधिक मात्रा में रहते हैं। वनस्पति वर्ग अपने एनीयो एसिडों के सहारे ही तो प्राणियों को प्रोटीन प्रदान

करता है। वही अनुदान वह सीधा मनुष्यों को भी देता है। मांस खाकर जिन तत्त्वों को प्राप्त करने की बात कही जाती है, वे सभी वनस्पति वर्ग से उसी प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं जिस प्रकार मांस के लिए मारे गए पशुओं से प्राप्त किया जाता है।

सीधी प्रोटीन या सीधी चर्बी खाकर हम उन्हें पचा नहीं सकते हैं। उपयुक्त पाचन के लिए दो बातों की आवश्यकता है, एक तो यह कि वे आहार के साथ उचित अनुपात में घुले-मिले हों, दूसरे यह कि उनके साथ खनिज, विटामिन, कार्बोहाइड्रेड आदि आवश्यक रसायनों का समुचित सम्मिश्रण हो। इस स्थिति के खाद्य-पदार्थ ही पेट के पाचक रसों के साथ मिलकर पचने योग्य बनते हैं। सीधी चिकनाई लेने लगें, तो अपच हो जाएगा। इसी प्रकार अनुपात से अधिक मात्रा में खाई गई प्रोटीन भी दुष्पाच्य होगी और उसका अनावश्यक भार पेट पर पड़ेगा। मांस में प्रोटीन और वसा की मात्रा अधिक तो अवश्य होती है, पर उनका संतुलन मनुष्य के पेट के उपयुक्त न होने से वह लाभ नहीं मिलता, जो मांसाहारी प्राणी उन्हें ठीक प्रकार पचाकर प्राप्त कर सकते हैं।

मांस एसिड वर्ग का आहार है उससे शरीर में खटाई बढ़ती है। शाकाहारी खाद्य अलक्लाइन वर्ग में आता है। मनुष्य शरीर में क्षार वर्ग अधिक होना चाहिए न कि खटाई वर्ग। एसिड बढ़ने से पेट में सड़न पैदा होती है और उससे कितने ही प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

अपनी मौत मरे हुए प्राणियों का मांस अखाद्य समझा जाता है, क्योंकि उसमें सड़न उत्पन्न हो जाती है। पर यह सड़न तो वध करने के उपरांत काटे हुए मांस में भी उत्पन्न हो जाती है। तत्काल काटे हुए मांस में सड़न न होने की बात भी कही जा सकती है, पर जिसे काटे हुए कई घंटे या कई प्रहर हो गए उसकी स्थिति और अपनी मौत मरे मांस की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं होता। सड़न के सारे चिह्न कसाई की दुकान में टँगे मांस में भी आसानी से देखे जा सकते हैं।

बाहर से स्वस्थ दीखने वाले मनुष्यों के शरीर में कितने ही प्रकार के रोग-कीटाणु पाए जाते हैं। बाहर से मोटा दिखने वाले पशु के शरीर की आंतरिक स्थिति सर्वथा नीरोग होगी, यह नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें कोई रोग थे, तो निश्चय ही वे मांस खाने वालों के शरीर में प्रवेश करेंगे और उसे बीमारियों से ग्रसित बना देंगे।

प्राणियों के शरीर में मल-विसर्जन की क्रिया निरंतर होती रहती है। साँस, पसीना तथा इंद्रिय छिद्रों से निकलने वाले मल शरीर की विषाक्तता को बाहर करते रहते हैं। मोटे तौर से ६० प्रतिशत उपयोगी अंश और ४० प्रतिशत बाहर फेंकने योग्य विकृत पदार्थों की मात्रा शरीर में भरी रहती है। काटे जाते समय उतना विषाक्त अंश भरा ही रहता है, जिसे काटने के बाद बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता। अस्तु मांस में ४० प्रतिशत विषाक्त एवं मल वर्ग का पदार्थ भी विभिन्न नस-नाड़ियों में भरा रहता है। खाने वालों को जहाँ ६० प्रतिशत पोषक पदार्थ मिल सकते हैं, वहाँ ४० प्रतिशत विकृत वर्ग का आहार भी उदरस्थ करना पड़ता है। सर्वविदित है कि पोषक पदार्थों की बड़ी मात्रा से भी सीमित लाभ ही मिलता है, किंतु विषैली वस्तुओं की तनिक-सी मात्रा भी शरीर में पहुँचकर भयंकर संकट उत्पन्न कर देती है।

आहार विद्या विशेषज्ञ डॉ० एम० बी० गंडी का कथन है मांस में रहने वाली चर्बी ऐसे तत्त्वों से भरी होती है, जो मनुष्य शरीर में प्रवेश करने के बाद कितने ही प्रकार की विकृतियाँ खड़ी करते हैं। डॉक्टर वाल्डेन ने योरोप में बहुप्रचलित शूकर मांस के विरुद्ध चेतावनी दी है और कहा है—उसमें रहने वाले 'ट्रिकीनोसिस कृमि' पकाने के बाद भी जीवित रहते हैं और खाने वाले के शरीर में प्रवेश करके स्नायुविक बीमारियाँ पैदा करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय शाकाहार संघ के उपाध्यक्ष डॉक्टर वुडलैंड ने एक योजना बनाई थी कि स्वास्थ्य प्रदर्शनियों का संसार भर में आयोजन किया जाए और उनके दरवाजे पर हाथी खड़ा करके

दर्शकों को यह बताया जाए कि यह संसार का सबसे बलिष्ठ प्राणी विशुद्ध शाकाहारी होता है।

जर्मनी के रेगन्सबर्ग और आग्सबर्ग स्थानों पर स्वास्थ्य विशेषज्ञों के दो बार हुए सम्मेलनों में उपयुक्त आहार-विषयक चर्चा में इसी बात पर जोर दिया गया कि जिन्हें शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है, ऐसे बुद्धिजीवियों को चिकनाई कम मात्रा में ही सेवन करनी चाहिए।

मांस के बारे में सम्मेलनों का बहुमत इसी पक्ष में था कि उसमें पाया जाने वाला 'कोलोस्टरेन' पदार्थ रक्त में चिकनाई ही नहीं, कैल्सियम की भी अनावश्यक मात्रा बढ़ा देता है। जो संतुलित स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर है।

एलेजिन विश्वविद्यालय बवेरिया के प्रो० हीनिंग और प्रो० स्कोइन का कथन है कि—मांस की तुलना में सोयाबीन, गेहूँ, काजू आदि से प्राप्त की गई चिकनाई कहीं अधिक सुपाच्य एवं निर्दोष होती है।

सर्वविदित है कि प्राणियों के शरीर में निरंतर विष उत्पन्न होते हैं और वे साँस, स्वेद, मल-मूत्र एवं अन्यान्य छिद्रों द्वारा बाहर निकलते रहते हैं। निकलने का अर्थ यह नहीं कि वे पूर्णतया बाहर निकल जाते हैं। जितना अंश निकलता है उससे कई गुना भीतर भरा रहता है, जो नए उत्पन्न होने वाले मल द्वारा धकेले जाने पर समयानुसार बाहर निकलता है। आँतों में, विशेषतया बड़ी आँत में, जो मल रहता है, उसमें सड़न एवं काफी अम्लता भी रहती है। वहीं प्रायः अनेक प्रकार के विषाणु पलते रहते हैं। मूत्राशय का भी यही हाल है। मल-मूत्र स्वयं गंदे और विषैले रहते हैं, जहाँ वे भरे रहते हैं, वे स्थान भी मल गृह, मूत्र गृह की तरह ही गंदगी और विषाक्तता से भरे रहते हैं। उनका प्रभाव शरीर के अन्य अंगों पर भी पड़ता ही है। इन सब कारणों से शरीर के भीतर उत्पन्न और संचित मलों का एक बड़ा विषाक्त भंडार भरा रहता है। उनकी छाया मांस पर रहती ही है।

मांस निर्दोष या निर्विष खाद्य-पदार्थ नहीं है, यह सर्वविदित है। मनुष्यों की तरह पशुओं के शरीर में भी रोग कीटाणु भरे रहते हैं और उनका निवास मांस में अधिक स्थायित्व के साथ रहता है। इसके खाने वाले उससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते। पशु-वध के उपरांत तो मृत शरीर में यह सड़न और भी तीव्रता के साथ बढ़ती है। कुछ घंटे पश्चात् ही उसमें सड़न के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, जो धीरे-धीरे बढ़ते हुए उसे पूर्णतया अखाद्य बना देते हैं। तत्काल का काटा हुआ मांस ही जब विष का भंडार होता है, तो वह जितनी देर रखा जायेगी उतना ही वह और भी अधिक विषैला होता चला जाएगा।

डॉ० रोगर ने मांसाहार और शाकाहार की प्रतिक्रियाओं पर अनेक प्रयोग किए हैं। उन्होंने कुछ चूहों को अनाज पर और कुछ को मांस पर रखा। मांसाहारी चूहों का पेशाब बदबूदार, पाखाना काला और गुर्दा सूजा हुआ पाया गया, जबकि अन्नाहारी चूहे पूर्ण स्वस्थ थे।

शाकाहार में अधिक जीवन शक्ति

मांस में प्रोटीन तो है, पर सोयाबीन के बराबर नहीं। उसमें कैल्सियम और लोहे की मात्रा भी बहुत स्वल्प है। लोहे का अधिक भाग रक्त में रहता है जो काटने के साथ ही बहकर निकल जाता है। कैल्सियम हड्डियों में रहता है, जो खाई नहीं जातीं। मांस में उतना ही लोहा है जितना उतने वजन के पालक में। खजूर, अंजीर, चोकर, किशमिस आदि में तो मांस से भी कहीं अधिक लोहा है। मांस में कैल्सियम अधिक से अधिक इतना ही होता है जितना मैदे की रोटी में।

निश्चय ही प्रोटीन शरीर का प्रमुख पदार्थ है। मांसपेशियों के ठोस भाग में पाँचवाँ हिस्सा प्रोटीन ही भरी हुई है। मस्तिष्क से लेकर गुर्दे, हृदय आदि तक सभी महत्त्वपूर्ण अवयव प्रोटीन से ही भरे हैं, उसका संतुलन सही रहने से शरीर ठीक तरह सक्षम बना रहता है और कमी पड़ने पर शरीर की वृद्धि रुक जाती है, देह

सूखने लगती है, रोग प्रतिरोधक क्षमता घट जाती है, अधिक परिश्रम नहीं हो पाता तथा मृत्यु और बुढ़ापे का संदेह जल्दी ही सामने आ उपस्थित होता है। निरंतर हमारी कोशिकाओं का क्षरण होता रहता है, उसकी पूर्ति के लिए प्रोटीन की उपयुक्त मात्रा हमारे भोजन में बनी रहे, यह आवश्यक है।

खाद्यों में प्रोटीन का उपयुक्त भाग रहे, यह ध्यान रखना चाहिए। इस दृष्टि से उनका चयन करते हुए समुचित सावधानी बरतनी चाहिए। जिनमें प्रोटीन की उपयुक्त मात्रा है, उनमें लोग भ्रमवश मांस, अंडे आदि को ही सर्वोपरि मानते हैं, पर बात वैसी बिलकुल भी नहीं है। मांस की अपेक्षा दालों में प्रोटीन का अंश कहीं अधिक है। वर्गीकरण के हिसाब से अंडों में १३ प्रतिशत, मछली में १६ प्रतिशत, मांस में २० प्रतिशत, मूँग की दाल में २४ प्रतिशत, मसूर की दाल में २५ प्रतिशत, उर्द की दाल में ३० प्रतिशत, मूँगफली में २६ प्रतिशत और सोयाबीन में ४२ प्रतिशत प्रोटीन होता है। इस प्रकार मांस की अपेक्षा दालों में ड्योढ़ा दूना प्रोटीन प्राप्त होता है, जो कि सस्ता भी है और नैतिक भी।

प्रोटीन को संपूर्ण और अपूर्ण इन दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्ण वे हैं, जिनमें खनिज, लवण, वसा आदि की उपयुक्त मात्रा सम्मिलित रहती है। अपूर्ण वह जिसमें अपना वर्ग तो पर्याप्त होता है, पर दूसरी उपयोगी वस्तुओं की कमी रहती है। इस कमी को पूरी करने के लिए अन्यान्य वस्तुओं का समावेश करना पड़ता है।

मांस के प्रोटीन उपापचय (मेटॉबोलिज्म) पर बुरा प्रभाव डालते हैं। शरीर में आहार पहुँचने से लेकर उसके द्वारा शक्ति बनने तक की क्रिया को उपापचय (मेटॉबोलिज्म) कहते हैं, यह कार्य निःस्रोत ग्रंथियाँ (डक्टलेस ग्लैंड्स) पूरा करती है। इन ग्रंथियों द्वारा ही मनुष्य की मनःस्थिति एवं संपर्क में आने वाले लोगों के साथ व्यवहार (रिएक्शन या बिहेवियर) निर्धारित होता है। प्रोटीन्स

की यह जटिलता (काम्प्लेक्सिटी) इन ग्रंथियों को उत्तेजित करती रहती है, इसलिए ऐसा व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के साथ कभी भी कुछ भी बुरा कार्य जैसे चोरी, छल, अपमान, लूटपाट, उच्छृंखलता और बलात्कार कर सकता है। पाश्चात्य देशों में यह बुराइयाँ इतनी सामान्य (कामन) हो गई हैं कि लोगों का इस ओर ध्यान ही नहीं रहा कि क्या यह आहार की गड़बड़ी का परिणाम तो नहीं ? जिस दिन वहाँ के लोग यह अनुभव कर लेंगे कि मन आहार की ही एक सूक्ष्म शक्ति है और उनकी मानसिक अशांति का कारण मानसिक विकृति है, उस दिन सारे पाश्चात्य देश तेजी से इस दुष्प्रवृत्ति को छोड़ेंगे।

मांस में पाया जाने वाला प्रोटीन, उन खनिजों और लवणों से रहित होता है, जिनकी शरीर को नितांत आवश्यकता रहती है। आमतौर से मांसाहारी लोग मांसपेशियाँ ही पकाकर खाते हैं, उनमें खनिजों और लवणों की उपयुक्त मात्रा न होने से उस खाद्य को अपूर्ण एवं घटिया प्रोटीन वर्ग में ही सम्मिलित किया जा सकता है। मांसाहारी खाद्य-विश्लेषणकर्ताओं ने उस प्रकार की आदत वालों को केवल गुर्दे, मूत्र-यंत्र, हृदय, मस्तिष्क और क्लोम यंत्र खाने को कहा है और मांसपेशियाँ न खाने की सलाह दी है। जबकि प्रचलन के अनुसार ये अवयव अस्वादिष्ट होने के कारण आमतौर से फेंक ही दिये जाते हैं।

जिन अवयवों को पुष्टिकर बताया जाता है, उनमें एक और विपत्ति जुड़ी रहती है—यूरिक ऐसिड की अधिकता, यह तत्त्व शरीर के भीतर जमा होकर गठिया, मूत्र रोग, रक्त विकार जैसे अनेकों रोग उत्पन्न करता है। मांस अम्लधर्मी पदार्थ है वह आँतों में जाकर सड़न पैदा करता है। कुछ समय पहले मांस का रसा बनाकर रोगियों को दिया जाता था, पर अब खाद्य विशेषज्ञों ने यह घोषित किया है कि उसमें न तो उपयुक्त मात्रा में पौष्टिक तत्त्व ही रहते हैं और न वह सुपाच्य ही है। उसे रोगियों को पिलाना उनके दुर्बल पेट के साथ अत्याचार करना है।

बीमारियाँ मनुष्यों में ही नहीं उन प्राणियों में भी होती हैं, जिनका मांस खाया जाता है। बहुत बढ़िया और स्वस्थ शरीर के पशु तो कदाचित् ही मांस के लिए मारे जाते हैं, आमतौर से बूढ़े, बीमार और निकम्मे पशुओं का ही वध होता है। इनमें से अधिकांश की शारीरिक स्थिति अवांछनीय होती है और उनमें अनेक प्रकार के रोग के कीटाणु भरे रहते हैं। स्पष्ट है कि मांस के साथ वे भी खाने वालों के शरीर में प्रवेश करेंगे और उन्हें देर-सबेर में रुग्ण बनाकर छोड़ेंगे।

प्राणिज प्रोटीन की प्रशंसा उसमें पाए जाने वाले विटामिन 'ए' के आधार पर की जाती है। वह तत्त्व दूध में भी प्रचुरतापूर्वक पाया जाता है। मांस की तुलना में छेना, पनीर, दही आदि कहीं अच्छे हैं।

और तो और मांस से तो सोयाबीन ही कहीं अधिक बेहतर है। उसमें कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा, विटामिन ए, बी, डी, ई, वसा आदि तत्त्व इतने रहते हैं जितने मांस में भी नहीं होते। उसे उबालकर, बिना उबाले पीसकर बढ़िया दूध बना सकते हैं। उसमें नीबू का रस डाल दिया जाए तो छेना भी बन जाएगा। उसका दही भी जमाया जा सकता है। चीन ने अपनी पौष्टिक खाद्य प्राप्त करने की समस्या का हल सोयाबीन के सहारे ही किया है। हमारे लिए भी उसका प्रचलन हर दृष्टि से उपयुक्त है। मांसाहार का स्थान सोयाबीन पूरी तरह ले सकता है। एक दिन भिगोकर फुलाया हुआ अथवा अंकुरित किया हुआ सोयाबीन तो और भी अधिक गुणकारी बन जाता है तथा कई दृष्टि से वह अधिक उपयुक्त भी है। दूधजन्य पदार्थों का प्रोटीन ६५ प्रतिशत तक पच जाता है, जबकि मांस का प्रोटीन आधा भी नहीं पच पाता है।

सामान्य दालें भी यदि फुलाकर या अंकुरित करके बिना छिलका उतारे भाप के सहारे मंदी आग पर पकाकर खाई जाएँ, तो वे भी प्रोटीन की आवश्यकता पूरी करती हैं। दुष्पाच्य तो उन्हें हमारी त्रुटिपूर्ण पकाने की प्रक्रिया बनाती है, जिसमें छिलके

उतारना तथा तेज आग के सहारे पकाने और छौंक-बघार देने और मसाले तथा घी आदि भरकर स्वादिष्ट बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

पशुओं में सबसे बलवान् हाथी है, उससे भी शक्तिशाली गैंडा माना जाता है। यह दोनों ही शाकाहारी हैं। यह जानते हुए भी न जाने क्यों लोग शाकाहार की शक्ति पर संदेह करते हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के एप्लाइड केमिस्ट्री विभाग ने वृक्षों की पत्तियों तथा हरी घास से प्रोटीन निकालकर दिल्ली के विश्व कृषि मेला में प्रदर्शित किया था और लोगों को बताया था कि मनुष्य की खाद्य आवश्यकता का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग प्रोटीन सामान्य घास और मामूली पत्तियों में भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकता है और उनके आधार पर मजे में जीवित रहा जा सकता है।

हमारे पाचक रसों में वह सामर्थ्य है कि वह अपने स्वाभाविक खाद्य पदार्थों में से वह तत्त्व खींच लें, जो उसके लिए आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उन्हें ही खाया जाए। सुअर के शरीर में सबसे अधिक चर्बी होती है—दुंबा मेंढ़ा की पूँछ में भी अतिरिक्त चर्बी होती है, उन बेचारों को घी, दूध, मक्खन कौन खिलाता है ? सामान्य घास-पात से ही वे आवश्यक मात्रा में चर्बी प्राप्त कर लेते हैं। जो आवश्यक हैं उसी को भोजन द्वारा पेट में ठूँसें, यदि यह बात सही रही होती तो फिर अंधों को आँखें खिलाकर, लंगड़ों को टाँगें खिलाकर, गूँगों को जीभ खिलाकर चिकित्सा की जा सकती है। जिसकी हड्डियाँ कमजोर हों उसे हड्डियाँ पीस-पीसकर खिलाई जानी चाहिए, पर वैसा हो नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार मांस खाकर मांस बढ़ाने और रक्त पीकर रक्त बढ़ाने की बात सोचना भी बाल-बुद्धि का परिचायक है।

प्रोटीन की मात्रा आवश्यक रूप से हमें चाहिए, सो ठीक है, पर उसके लिए हमारा शाकाहारी भोजन ही पर्याप्त है, उससे

उचित मात्रा में उपयुक्त स्तर की प्रोटीन हमें मिल सकती है। बलिष्ठता के सारे तत्त्व मनुष्य के स्वाभाविक भोजन शाकाहार में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, उन्हीं से हमें उपलब्ध करने चाहिए। इसके लिए मांसाहार जैसे माध्यम का अवलंबन करने की आवश्यकता किसी भी प्रकार नहीं है।

मांसाहार रोगों का जनक भी

हार्वर्ड मेडिकल स्कूल अमेरिका के सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० ए० वाचमैन और डॉ० डी० एस० बर्नस्टोन को आश्चर्य था कि मांस से स्वास्थ्य में सुधार की मान्यता के बावजूद मांसाहारियों की हड्डियाँ कमजोर क्यों होती हैं ? इस बात का निश्चित पता लगाने के लिए दोनों वैज्ञानिकों ने मांसाहारियों तथा शाकाहारियों की शारीरिक गतिविधियों का लंबे समय तक अध्ययन किया।

जो निष्कर्ष सामने आए, वह मांसाहारियों को चौंका देने वाले थे। इन वैज्ञानिकों ने एक सम्मिलित रिपोर्ट में बताया—"मांसाहारियों के मूत्र की जाँच से पता चला है कि उसमें अधिकांश मात्रा तेजाब और क्षार की होती है। यह तेजाब और क्षार शरीर के शुद्ध रक्त से मांस पचाने के लिए तेज हुई शारीरिक मशीन की गर्मी के कारण उसी तरह स्खलित होता है, जिस तरह कामुक चिंतन से वीर्य। बड़ी मात्रा में पेशाब के साथ रक्त का जो क्षार और तेजाब बाहर निकल जाता है, उसे पूरा करने के लिए शरीर में हड्डियों के अतिरिक्त और कोई दूसरा स्रोत मिलता नहीं। फलस्वरूप रक्त अपना संतुलन बनाए रखने के लिए क्षार और तेजाब हड्डियों से चूसने लगता है। इस प्रकार मांसाहारी व्यक्ति की हड्डियाँ कमजोर होती चली जाती हैं।"

यह तो शरीर प्रणाली में उत्पन्न हुई पहली अवस्था हुई। सच बात यह है कि इस अनपेक्षित प्रतिक्रिया का दूषित प्रभाव शरीर और मन सब पर पड़ता है। यह नहीं मानना चाहिए कि रक्त हड्डियों से आवश्यक सामग्री ले लेता है, जिससे उसकी अपनी तेजस्विता स्थिर हो जाती है। लंदन के सुप्रसिद्ध डॉक्टर

अलेक्जेण्डर हेग एम० ए०, एम० डी०, एफ०, आर० सी० पी० (लंदन) ने एक पौंड मांस के यूरिक एसिड विष का अध्ययन करने के बाद पाया कि—

काड मछली में ४ ग्रेन, पलीस मछली में ५ ग्रेन, सुअर के मांस में ६ ग्रेन, भेड़-बकरी में ६.५ ग्रेन, बछड़े के मांस में ८ ग्रेन, सुअर की कमर और कान के हिस्से वाले मांस में ८.५ ग्रेन, चूजे में ६ ग्रेन, गाय की पीठ और पुट्ठे वाले अंगों के मांस में ६ ग्रेन, बोटी जो भूनकर खाई जाती है, उसमें १४ ग्रेन, जिगर में १६ ग्रेन और शोरबे में ५० ग्रेन विष पाया जाता है।

'यह विष जब सामान्य स्थिति में रहता है, तब तक उसके दुष्परिणाम दिखाई नहीं देते। पर कुछ ही दिन के मांसाहार के बाद जब यह विष रक्त में अच्छी तरह मिल जाता है तब दिल की जलन, जिगर की खराबी, साँस रोग, रक्तअल्पता, टी० बी०, गठिया, हिस्टीरिया, आलस्य, निद्रा का अधिक आना, अजीर्ण, शरीर में दर्द, मौसम के हल्के परिवर्तन से जुकाम व एन्फ्लुएन्जा हो जाना, निमोनिया व मलेरिया आदि सैकड़ों बीमारियाँ हो जाती हैं।

अंडा भी मांसाहार में ही आता है। फ्लोरिडा अमेरिका का कृषि विभाग, "अंडों का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है", उसकी शोध और परीक्षण कर रहा है। अट्ठारह महीनों के परीक्षण के बाद १९७७ की हेल्थ बुलेटिन ने बताया—अंडों में डी० डी० टी० नामक विष पाया जाता है, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक हानिकारक है।

कैलीफोर्निया के विश्व विख्यात डॉ० कैथेराइन निम्मो डी० सी० आर० एन० तथा डॉ० जे० एमन विल्कन्ज ने एक सम्मिलित रिपोर्ट में बताया—"एक अंडे में लगभग ४ ग्रेन "केलेस्टरोल" नामक अत्यंत विषैला तत्त्व पाया जाता है। यह विष, हृदय रोगों का मुख्य कारण है। इतनी सी मात्रा से ही हाई ब्लड प्रेशर, पित्ताशय में पथरी, गुरदों की बीमारी तथा रक्त ले जाने

वाली धमनियों में घाव हो जाते हैं। इस स्थिति में अंडों से स्वास्थ्य की बात सोचना मूर्खता ही है।"

इन डॉक्टरों की यह रिपोर्ट पढ़कर विश्व भर के डॉक्टर चौंके और तब सारे संसार की प्रयोगशालाओं में परीक्षण होने लगे। उन परीक्षणों में न केवल उपरोक्त तथ्य पुष्ट हुए, वरन् कुछ नई जानकारियाँ मिलीं, जो इनसे भी भयंकर थीं।

उदाहरण के लिए इंग्लैंड के डॉ० राबर्ट ग्रास, इर्विंग डैविडसन तथा प्रोफेसर ओकड़ा ने कुछ पेट के बीमारों का—अंडे खाने और अंडे खाना छोड़ देने इन दोनों परिस्थितियों में परीक्षण किया और पाया कि जब तक कि मरीज अंडे खाते रहे तब तक उनका पाचन बिगड़ा रहा, पेचिश हुआ और ट्यूबर क्यूलोसिस बैक्टीरिया (टी० बी०) जन्म लेता दिखाई दिया।"

अमेरिका के डॉ० ई० वी० एम० सी० कालम ने तो इन तथ्यों का विधिवत् प्रचार किया। उन्होंने अपनी पुस्तक "न्यूअर नालेज ऑफ न्युट्रिशन" के पेज १७१ में लिखा है, अंडों में कार्बोहाइड्रेट्स तथा कैल्सियम की कमी होती है। अतः यह पेट में सड़ाँध उत्पन्न करते हैं, यह सड़न ही अपच, मंदाग्नि और अनेक रोगों के रूप में फूटती है, साथ ही स्वभाव में चिड़चिड़ापन, थोड़े में क्रुद्ध हो जाना जैसी बुराइयाँ उत्पन्न करती है।

"दि नेचर ऑफ डिसीज" पत्रिका के द्वितीय वाल्यूम पेज १६४ में चेतावनी देते हुए डॉ० जे० ई० आर० एम० सी० डोनाह एफ० आर० सी० पी० (इंग्लैंड) लिखते हैं—"कैसा पागलपन है कि जो अंडा आँतों में विष और घाव उत्पन्न करता है, आज उन्हीं अंडों की उपज में वृद्धि करने की व्यावसायिक योजनायें तैयार की जा रही हैं।"

अंडे के बहुत गुणगान किए जाते हैं, पर यह स्पष्ट है कि उसका सफेदी वाला भाग जो ६० से ७० फीसदी तक होता है, वह आमाशय और आँतों में पहुँचकर सड़न उत्पन्न करता है। आमाशय के रस-स्राव को कुंठित करता है, जिससे पेप्सिन के

प्रतिकूल, प्रतिक्रिया होती है। जर्दी वाले भाग में जितना उपयोगी पदार्थ रहता है, उतना ही दूध, दही, हरी सरसों की पत्ती, संतरा, सहजन, गाजर, शलजम, पालक में भी आसानी से ही पाया जा सकता है। उनके द्वारा इन वस्तुओं को प्राप्त करना अपेक्षाकृत सुपाच्य ही रहता है।

प्रोटीन की दृष्टि से इन दिनों अंडे खाने का रिवाज बढ़ रहा है। समझा जाता है कि उसमें इस तत्त्व की अधिकता होने से वह अधिक लाभदायक रहेगा। परंतु लोग यह भूल जाते हैं कि वह जितना लाभदायक दिखता है—वस्तुतः वह वैसा है नहीं। पाचन की दृष्टि से वह काफी गरिष्ठ पड़ता है। भारत जैसे गर्म देशों में तो वह पेट में जाते ही सड़ने लगता है और विष पैदा करता है। तेल में उबाले और भुने हुए अंडों के समान दुष्पाच्य शायद ही और कोई पकवान होता हो, उसमें जितना पीलापन होता है, उसी की कुछ उपयुक्तता समझी जा सकती है। सफेदी वाला अंश तो हानि के अतिरिक्त और कुछ करता ही नहीं।

रक्त में पाए जाने वाले लाल कणों को, जिनकी सघनता से ही रक्त का रंग लाल होता है निकाल डालें, तो जो शेष बचेगा वह पानी होगा। चरक संहिता के अनुसार रक्त में ८ अंजलि और मस्तिष्क में आधा अंजलि केवल जल ही होता है। शरीर के भार का ७० प्रतिशत भाग केवल जल ही होता है। यदि आप १०० पौंड वजन के हैं, तो आप में ७० पौंड पानी है। रक्त में तो यह प्रतिशत ६२ का होता है, अर्थात् शरीर में यदि ६ लीटर रक्त है, तो उसमें रक्तकणों की मात्रा कुल .४८ लिटर ही होगी शेष ५.५२ लिटर मात्रा केवल जल की होगी।

प्रकृति ने मनुष्य को खनिज, धातु, लवण और गैसों के एक विशेष सम्मिश्रण से बनाया है। शरीर में किस वस्तु का कितना प्रतिशत रहना चाहिए, उसे प्रकृति ने शरीर बनाते समय पहले ही निश्चित कर दिया है। जब तक यह अनुपात स्थिर रहेगा तब तक शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहेगा। यदि उसमें व्यतिक्रम हुआ,

गलत खाने से यह अनुपात बिगड़ा, तो फिर मनुष्य का स्वस्थ रहना संभव नहीं, कोई न कोई बीमारी उसे अवश्य धर पकड़ेगी। यह एक वैज्ञानिक सिद्धांत हुआ।

अन्न न मिले तो मनुष्य ६० दिन तक जीवित बना रह सकता है, पर पानी के बिना तो वह अधिक से अधिक सात ही दिन जी सकता है। पानी के बिना एक दिन बिताना भी सबसे बड़ी तितीक्षा मानी गई है—वह पानी के महत्त्व को ही प्रतिपादित करता है। प्रोटीन, चर्बी और ग्लाइकोजन सब मिलाकर शरीर में ४० प्रतिशत होते हैं। ये सबके सब समाप्त हो जावें तो भी मनुष्य जीवित रह सकता है, पर पानी की मात्रा में २० प्रतिशत भी कमी हो जाए, तो शरीर का जीवित रहना संभव नहीं। शरीर में पाचन क्रिया से लेकर रक्त संचरण तक के लिए जल शरीर की प्राथमिक आवश्यकता है।

इस दृष्टि से जहाँ दिन में बार-बार पानी पीने की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि हम जो आहार ग्रहण करें। उसमें भी पानी की मात्रा कम न हो। गीली सब्जी और दाल बनाकर खाने का केवल भारतवर्ष में ही रिवाज है। यह पद्धति जल की आवश्यकता देखकर ही चलाई गई थी। अब जो वैज्ञानिक आँकड़े सामने आ रहे हैं, उनसे पता चलता है कि आहार में शाकों की बहुलता निर्धारित करने के पीछे भारतीय आचार्यों ने कितनी बुद्धिमत्ता और वैज्ञानिकता से काम लिया है।

मोटे रूप से हम जो अन्न लेते हैं उसमें जल की अधिकतम ५० प्रतिशत ही मात्रा होती है, पर फल और सब्जियों में जल की मात्रा ६५ प्रतिशत तक होती है, इसी से वे सुपाच्य भी होते हैं और आरोग्यवर्धक भी। सेव में ८४ प्रतिशत जल होता है और केला व अंगूर में क्रमशः ७५.३ प्रतिशत व ७७.३ प्रतिशत, आड़ू में ८६.४ प्रतिशत, तो गोभी तथा गाजर में ६१.५ प्रतिशत व ८८.२ प्रतिशत पालक जैसी पत्तेदार हरी सब्जियों और टमाटर में तो ६२.३ तथा ६४.३ प्रतिशत जल होता है। यह जल उस खनिज

जल के समान होता है, जो पहाड़ी नालियों में पर्वतों के अनेक सल्फर तत्त्व लेकर बहता है। इसलिए स्वास्थ्य के लिए जितने उपयोगी शाक हैं, उतना और कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता।

मांस और भारी अन्न से कोई शरीर की स्थूलता भले ही बढ़ा ले, पर जिन्हें स्वस्थ, रोगमुक्त और तेजस्वी जीवन बिताना है, उन्हें जल की पर्याप्त मात्रा ग्रहण करनी ही होगी—वह केवल शाकाहार से ही मिल सकती है।

मांसाहार तो कतई उपयुक्त नहीं

स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से भी मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार नहीं है। मांस भक्षण में सामयिक उत्तेजना और शक्ति का अनुभव हो सकता है, पर स्वास्थ्य को स्थायी रूप से सुदृढ़ और कार्यक्षम बनाने के लिए उसे कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इस संबंध में केवल भारतीय विद्वान् या ग्रंथ ही पर्याप्त प्रकाश नहीं डालते। अपितु वर्तमान समय में योरोप और अमेरिका के वैज्ञानिकों, शरीर-शास्त्रवेत्ताओं तथा प्रसिद्ध डॉक्टरों ने भी जो खोज, प्रशिक्षण एवं अनुभव किए हैं और जो निष्पत्तियाँ दी हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि मांसाहार स्थायी स्वास्थ्य की समस्या का हल नहीं कर सकता, वरन् उससे अनेकों प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध डॉ० हेनरी परडो ने लिखा है—"मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ, जो मांसाहार त्यागकर शाकाहारी बन जाने से पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो गए और कब्ज, गठिया, मृगी आदि रोगों से छुटकारा पा गए। मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि जो व्यक्ति पूर्णतया शाकाहार पर रहते हैं वे मांसाहारियों की अपेक्षा रोगों के शिकार बहुत कम होते हैं।"

डॉ० रसैल ने अपनी 'सार्वभौम भोजन' नामक पुस्तक में लिखा है—"जहाँ मांसाहार जितना कम होगा वहाँ कैंसर की बीमारी भी उतनी ही कम होगी।" डॉ० पर्कन्स ने अपने व्यक्तिगत अनुभव

का उल्लेख किया है कि—"मांसाहार के कारण ही वे बहुत दिनों तक सिर दर्द, मानसिक थकावट तथा गठिया से ग्रसित रहे।"

डॉ० हेग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "डाइट एंड फूड" में लिखा है—"शाकाहार से शक्ति उत्पन्न होती है और मांसाहार से उत्तेजना बढ़ती है, परिश्रम के अवसर पर मांसाहारी शीघ्र थक जाता है, जिसे इसकी आदत पड़ जाती है, वह शराब आदि उत्तेजक पदार्थों की आवश्यकता अनुभव करता है, यदि वे न मिलें तो सिर दर्द, उदासी स्नायु दुर्बलता आदि का शिकार हो जाता है। ऐसे लोग निराशाग्रस्त होकर आत्म-हत्या तक कर लेते हैं। इंग्लैंड में मांस और शराब का प्रचार बहुत अधिक है, इसलिए वहाँ आत्म-हत्याएँ भी बहुत अधिक होती है।"

इसी प्रकार मेरी एस० ब्राउन, डॉ० शिरमेट, डॉ० क्लाडसन, जार्ज बर्नार्डशॉ, डॉ० लम्स शैप तथा लंदन की "वेजीटेरियन ऐसोसियेशन" आदि ने भी मांसाहार से स्वास्थ्य पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव पर काफी विस्तृत प्रकाश डाला।

डॉ० बारमस रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) की बीमारी पर एक शोध-कार्य चला रहे थे। अनेक रोगियों का अध्ययन करते समय उन्होंने जो एक सामान्य बात पाई, वह यह थी कि रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) के अधिकांश बीमार लोग मांसाहारी थे। उनके मस्तिष्क में एक विचार उठा कि कहीं मांसाहार ही तो रक्तचाप का कारण नहीं है ? यदि है तो किन परिस्थितियों में ? इस प्रश्न के समाधान के लिए उन्होंने प्रयोग की दिशाएँ ही बदल दीं। अब वे मांसाहार से होने वाले शरीर पर प्रभाव का अध्ययन करने लगे। उनके प्रयोग और निष्कर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए, दूसरे वैज्ञानिकों ने भी माना कि मांसाहार केवल शरीर ही नहीं, मानसिक स्थिति को भी प्रभावित करता है। दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया दूषित और अस्वाभाविक होती है।

वध किए जाते समय जानवर को जिस भयभीत और चीत्कार भरी स्थिति में होकर गुजरना पड़ता है, उसके कारण

उनकी अंतःस्रावी ग्रंथियाँ तेजी से विष उगलने लगती है। उस स्थिति में तेजी से उभरते हुए हारमोन कुछ ही क्षण में समस्त रक्त में घुल जाते हैं और उसका प्रभाव मांस पर भी पड़ता है। यों पिचकारी से निकला हुआ शुद्ध रक्त उतना विषैला नहीं होता, उसे पिया और पचाया भी जा सकता है। किंतु यदि वधकाल की कातरता में होकर गुजरे हुए रक्त को पिया जाए तो वह भयंकर विपत्ति खड़ी करेगा। यों वध करने के बाद रक्त का अधिकांश भाग बाहर बह जाता है, फिर भी मांस में जो पतली रक्त नलिकाएँ रहती हैं, उनमें तो खून बना ही रहता है। मांस में लालिमा इसी की रहती है। अधिक त्रास देकर मारे जाने वाले जानवर का मांस अधिक स्वादिष्ट होता है, इस मान्यता में इतना ही तथ्य है कि उसमें एक अतिरिक्त विष भरा होता है, जो अभ्यस्त नशेबाजों को जिस प्रकार कड़ुआपन भी स्वादिष्ट लगता है। उसी प्रकार प्रिय लगने लगता है, यह स्वाद निश्चित रूप से हानि को और अधिक गहरी हानि बनाता चला जाता है।

आर्थिक दृष्टि से भी घाटा

कभी-कभी लोग अर्थशास्त्र की दुहाई देते हुए यह कहते हैं कि खाद्य समस्या हल करने के लिए, अन्न की बचत करने के लिए मांसाहार की उपयोगिता है। यह दलील भी नितांत लचर हैं। मांस खाने के लिए जो पशु पाले जाते हैं, वे उतनी जमीन की उपज उदरस्थ कर लेते हैं, जितने से मांस की तुलना में कहीं अधिक अनाज उत्पन्न किया जा सकता है।

प्रो० रिचार्ड वी० ग्रेक ने विस्तृत सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला है कि शाकाहारी व्यक्ति के लिए डेढ़ एकड़ जमीन से गुजारे के लायक खाद्य सामग्री प्राप्त हो जाती है, जबकि मांसाहारी के लिए ढाई एकड़ प्रति व्यक्ति चाहिए। कारण यह है कि पशु मनुष्य की तुलना में प्रायः बीस गुना अधिक भोजन करते हैं। वे अपने जीवन काल में जितना चारा खाते हैं, उसका दो हजारवाँ भाग ही खाने योग्य मांस दे पाते हैं। काटने पर भी उनका ६५

प्रतिशत भाग तो चमड़ी, हड्डी सींग, खुर, आँतें, रक्त, मल आदि भाग अखाद्य रहता है। खाने योग्य मांस तो प्रति पशु बीस किलो के लगभग ही पड़ता है। इस प्रकार मांस की दृष्टि से पाले गये पशु अधिक भूमि की उपज खाते हैं और स्वल्प मात्रा में खाद्य उत्पन्न करते हैं। अतएव वे खाद्य समस्या को सुलझाते नहीं, वरन् उलझाते और बढ़ाते ही हैं।

अर्थशास्त्री आर्थर सी० क्लार्क और प्रो० वक्र मिस्टर फुलर ने अगली शताब्दी के लिए जो विश्व-योजना बनाई है, उसमें जनसंख्या वृद्धि को प्रथम स्थान दिया गया है और उसके अनुरूप साधनों की उपलब्धि में वर्तमान तथा भावी वैज्ञानिक उपलब्धियों को पूरी तरह नियोजित करने का कार्यक्रम बनाया गया है। उनके कथनानुसार "अगली शताब्दी में मांस का उत्पादन बंद हो जायेगा, क्योंकि वह बहुत महँगा पड़ेगा। एक पौंड मांस तैयार करने में प्रायः २० पौंड चारा खर्च होता है। इतनी वनस्पति खर्च करके इतना कम मांस उत्पन्न करना, सरासर घाटे का सौदा है। इसके लिए उपजाऊ जमीन की इतनी शक्ति बरबाद नहीं की जा सकती। जो चारा, भूसा, इमारती लकड़ी अथवा कागज, गत्ता जैसी चीजें बनाने के लिए काम आकर जरूरी आवश्यकताओं को पूरी करेगी, उन्हें जानवरों को खिलाना और फिर मांस उत्पन्न करना, सरासर फजूलखर्ची है। गिनी-चुनी बहुत दूध देने वाली गायों के लिए जगह और खुराक बचाई जा सके—यही क्या कम है ? यह भी तब हो सकेगा, जब मनुष्यों को स्थान तथा खुराक संबंधी कटौती के लिए तैयार किया जा सके। दूध-दही तो सोयाबीन जैसी वनस्पतियाँ आसानी से बना दिया करेंगी। घी तो तेल की ही एक किस्म है। चिकनाई की जरूरत तेल से पूरी हो ही सकती है, फिर घी की क्या जरूरत ? तेल में प्रोटीन तथा बैक्टीरिया मिलाकर कृत्रिम मांस आसानी से तैयार हो सकता है, फिर पशु-मांस के जंजाल मे उलझने की लंबी और महँगी प्रक्रिया अपनाने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी।"

भारत कृषि प्रधान देश है। यहाँ ८० प्रतिशत लोगों की आजीविका कृषि पर निर्भर है। कृषि के साथ पशुपालन भी जुड़ा हुआ है। इस देश की निर्धन स्थिति तथा छोटे जीवों को देखते हुए यहाँ बड़े पैमाने पर मशीनों से खेती नहीं हो सकती। बैल कृषि का मूल आधार है। दूध पर मनुष्यों की स्वास्थ्य-रक्षा निर्भर है। यह दोनों कार्य पशु-पालन पर निर्भर हैं। पशुधन यदि पर्याप्त मात्रा में रहे तो ही उपरोक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं।

पशु धन में गौ ही इस देश के लिए सर्वोपरि महत्त्व की है। भैंस तथा भेड़-बकरियों के बच्चे कृषि के प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकते और न उनका दूध ही गाय के दूध की तुलना में पौष्टिक एवं स्फूर्तिदायक है। गाय में सात्त्विकता की मात्रा अधिक रहने से गोरस का सेवन बुद्धि-वृद्धि एवं सौम्य प्रकृति को लाभ भी देता है। अन्य पशुओं के दूध में यह विशेषता नहीं है। इनको देखते हुए यहाँ गौ को माता के सम्मान से सम्मानित किया गया है। भारतवासी गाय के अनुदानों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए उसे गौ माता कहकर सम्मानित करते हैं, जो सब प्रकार उचित ही है।

पशु धन की—विशेषतया—गौधन की रक्षा-भारतवर्ष की कृषि-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था को देखते हुए नितांत आवश्यक है। मानवीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो भी पशु हमारे छोटे भाई है। मनुष्य बुद्धि तथा पुरुषार्थ में बड़ा है, तो उसे अपना बड़प्पन अपने से छोटे पशु-पक्षियों की रक्षा में प्रयुक्त करना चाहिए। बुद्धि के अतिरिक्त उसकी एक और मानवीय विशेषता दया है। दूसरों को कष्टपीड़ित देखकर स्वयं करुणा से द्रवित हो उठना, पराया कष्ट को अपना कष्ट मानना और अपने स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट न देना, यह तो धर्म भावना है। जिसका हर धर्म में समर्थन किया गया है। जिस भारत ने संसार को प्रेम, करुणा और अहिंसा का संदेश सुनाया था और भविष्य में भी मानवी करुणा का पुनर्जागरण उसी के हिस्से में आने वाला है। अपनी प्राचीन

परंपराओं और भावी जिम्मेदारियों को ध्यान में रखते हुए हम भारतीयों के लिए यह आवश्यक है कि अपने यहाँ पशु धन की, गौधन की रक्षा में विशेष रूप से दिलचस्पी लें। देश की कृषिव्यवस्था और अर्थव्यवस्था को देखते हुए तो यह और भी अधिक आवश्यक है।

दुर्भाग्य से इन दिनों अपने देश में पशुधन का ह्रास बुरी तरह हो रहा है। कृषि के लिए बैल और दूध के लिए गायों की निरंतर कमी होती जा रही है। मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति जहाँ अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाल रही है, वहीं हमारे प्रेम, करुणा, सहृदयता जैसे उच्च गुणों को भी घटाती जा रही है। दया और न्याय केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। वरन् यदि वे आदर्श सच्चे हैं, तो उनका प्रयोग पशुधन तक भी व्यापक बनाया जाना चाहिए। मांसाहार का प्रचलन बढ़ने से हमारी जो भावनात्मक क्षति होगी उसका दुष्परिणाम परस्पर निर्दयता बरतने के रूप में भी सामने आयेगा। पशुबध और मांसाहार की वर्तमान स्थिति ऐसी जिससे हमारा भविष्य अंधकारमय ही बनेगा।

१६७१-७२ की जनगणना के अनुसार जब भारत की जनसंख्या ४३,६२,३५,००० थी, तब देश में कुल मिलाकर १७५,५,७१,८४१ गोवंश तथा ५,१२,३७,२७६ भैंस वंश अर्थात् २२,६८,०६,१२० पशु थे। देश में कुल कृषि योग्य भूमि ४२,१५,२१०० एकड़ थी। खाद्य विशेष समिति की रिपोर्ट के अनुसार आठ एकड़ जमीन के लिए एक जोड़ी बैल चाहिए। इस हिसाब से वर्तमान कृषि योग्य भूमि के लिए १०,५३,८०,२५० बैलों की आवश्यकता पड़ेगी और तेल के कोल्हू, गाड़ियों तथा बोझा ढोने के लिए १५,६५००० की और आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार कृषि तथा भार वाहन के लिए १०,६६,४५,२५० पशुओं की जरूरत हुई। इस प्रयोजन के लिए बैल, गाय और भैंसा, भैंस दोनों ही जोड़ लिए जाएँ, तो गणना के अनुसार बैलों की संख्या

६,८६०१,६१४ तथा गायों की संख्या २१,७७,१६६ नर भैंसे ६६,०५,२५० तथा मादा भैसें ४,६७,५३४ हैं। इस प्रकार बैल, गाय, भैंसें जो कृषि और बोझ ढोने के काम में आ सकते हैं, कुल मिलाकर ७,७८,८२,१६७ होते हैं। स्मरण रहे भारत में कहीं-कहीं गायें तथा मादा भैसें भी कृषि एवं बोझ ढोने के काम में प्रयुक्त होती हैं। तब भी आज की कृषि और बोझ ढोने की आवश्यकता पूरी करने में २,६०,६३,७८३ पशुओं की कमी रह जाती है। वर्तमान समय में भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक है, अतएव जनसंख्या के अनुपात में खाद्यान्न एवं दुग्ध उत्पादन आदि के लिए ज्यादा पशुधन की आवश्यकता है।

असली घी और दूध का उत्पादन तेजी से गिर रहा है और नकली घी की उत्पत्ति तथा खपत जिस तेजी से बढ़ रही है उसे देखकर आश्चर्य होता है। पशुवध की वृद्धि के कारण विदेशों में चमड़ा, मांस आदि की माँग में जो वृद्धि हुई है, उसके आंकड़ों को देखते हुए दुःख तथा निराशा ही हो सकती है। केवल विदेशी मुद्रा कमाने का लाभ ही ध्यान में नहीं रखा जाना चाहिए, वरन् यह भी देखा जाना चाहिए कि पशु धन घटने से कृषि उत्पादन तथा दूध, घी के अभाव में स्वास्थ्य की कितनी हानि होगी ?

पशु विशेषज्ञ डॉक्टर राइट ने मंदी के दिनों में हिसाब लगाकर भारत को गोवंश से मिलने वाली आमदानी ११ अरब रुपया वार्षिक बताई थी। अब उस समय से कम से कम ८ से ६ गुनी वृद्धि हुई है। इस हिसाब से उस आय का अनुमान ८८ अरब रुपया से लेकर एक खरब रुपया होना चाहिए। यह समस्त राष्ट्रीय आय का लगभग एक चौथाई होता है। देश कें इतने बड़े उद्योग की ओर आँखें बंद किए रहना या उपेक्षा बरतना, किसी भी दृष्टि से समझदारी नहीं है।

इसके विपरीत मांस उत्पादन पर ही जोर दिया जा रहा है। पिछले दिनों की सरकारी सूचना के अनुसार देश में सरकारी १३९४ और गैर सरकारी ७७० अर्थात् कुल २०८४ बड़े कसाईखाने

हैं, जिनमें ४५,६४६ सुअर, २,७७,६७० भैंसें ४२,३४८२८ भेड़ें, ४५,०२५,७८ बकरी तथा ३,९५,५१२ अन्य पशु कटते हैं।

राष्ट्र-संघ की 'फूड एण्ड एग्रीकल्चर ऑर्गेनाइजेशन" और 'वर्ल्ड हैल्थ ओर्गेनिजेशन' तथा मांस बाजार की रिपोर्ट तथा सिफारिशों से प्रभावित होकर भारत सरकार मांस उत्पादन बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है। उसके अनुसार सन् ८१ तक वार्षिक गो मांस उत्पादन १६२०६२५०० मन तथा साधारण मांस १५,४६,५००० मन बढ़ाने की तजबीज थी। वर्तमान में मांस उत्पादन दो गुना है।

इस योजना के अनुसार मद्रास, दिल्ली, मुंबई और कलकत्ता में दो दो करोड़ रुपए की पूँजी से चार बड़े कसाईखाने चलाए जाते रहे हैं। इनमें से प्रत्येक में प्रतिदिन ६००० भेड़, बकरे, ३०० गाय, बैल, १०० सुअर छह घंटे में काटे जाते हैं। यह एक पाली की बात हुई। जरूरत के अनुसार इसकी दूसरी पाली भी चलाई जा सकेगी और इन्हीं कारखानों में दुगना पशुवध किया जा सकेगा। यह सब मांसाहार बढ़ाने के लिए किया जा रहा है।

मांसाहार के पक्ष में जितनी दलीलें दी जाती है इस एक के अतिरिक्त और सभी थोथी हैं। जो दलील सही है, वह यह कि मनुष्य के भीतर रहने वाले शैतान को अपनी निर्मम क्रूरता के साथ सहनृत्य करने का अवसर मिलता है। यदि पौष्टिक आहार की बात कही जाए, तो मांस में पाए जाने वाले जीवनतत्त्व अनाज की तुलना में कहीं घटिया है और उसके सहारे पशुओं के रोगों और उनकी आदतों को शरीर में प्रवेश कर जाने की पूरी-पूरी गुंजाइश है। शाकाहार की उत्कृष्टता स्पष्ट है। मांसाहारी जंतु, शाकाहारी जंतुओं का ही शिकार करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि मांसाहारी जीवों के शरीर में विषाक्तता कितनी बड़ी मात्रा में भरी रहती है। सिंह और भेड़िया एक-दूसरे का मांस नहीं खाते और न बाज, चील, गिद्ध आपस में झपटते हैं। उनकी घात शाकाहारी

पशु-पक्षियों पर ही रहती है, क्योंकि मांसाहारी की तुलना में शाकाहारी का शरीर कितना विशुद्ध रह सकता है, इस तथ्य को वे रक्तपायी प्राणी भी जानते हैं। मनुष्य की बुद्धि ही है, जो इस सीधे-साधे तर्क की अवहेलना करके मांसाहार का समर्थन करती है।

पशुओं को मारकर खाने से खाद्य-पदार्थों की कमी दूर हो सकती है या अर्थव्यवस्था में बढ़ोत्तरी हो सकती है—अर्थशास्त्रियों का इस तरह समझाना मानवी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के साथ खिलवाड़ करना है तथा तथ्यों को झुठलाना भी, पशुओं के श्रम और उनके दूध, घी आदि से खाद्य-पदार्थ जितनी मात्रा में बनाए जा सकते हैं, उतने को नष्ट करके उन्हें फाड़-चीड़कर खा जाना बिल्कुल सोने के अंडे देने वाली मुर्गी के सारे अंडे एकबारगी निकाल लेने के लिए उसका पेट चीर डालने के समान ही मूर्खतापूर्ण है। उनके गोबर का सदुपयोग करके उतना खाद्य पदार्थ उगाया जा सकता है, जो मांस की तुलना में भार और मूल्य दोनों ही दृष्टि से कहीं अधिक होगा। अर्थशास्त्र को जिन्हें मोड़ना-मरोड़ना नहीं है, वे यह भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकते कि पशुओं को मार-काटकर समाप्त कर देना और उनके मांस को उदरस्थ करना, खाद्य समस्या अथवा अर्थ समस्या का कारगर हल है। नकली चमड़े के उत्पादन की विधियाँ कार्यान्वित हो रही हैं, इसलिए चमड़े की आवश्यकता के बहाने पशुवध के औचित्य का कोई कारण शेष नहीं रह जाता।

मांसाहार के पक्ष में दी जाने वाली सभी दलीलों का खोखलापन, तर्क और तथ्य की कसौटी पर कसा जा सकता है और उस बकवास की व्यर्थता को थोड़ी-सी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके सहज ही समझा जा सकता है। पर उस दलील का कोई जवाब नहीं कि मनुष्य के अंतरंग के किसी कोने में शैतान और पिशाच भी छिपा बैठा रहता है और उसकी तृप्ति क्रूर-कर्मों के बिना नहीं हो सकती। पाप और अनाचार के लिए ही वह आतुर

रहता है। फिर कानून एवं दंड की पकड़ से बचकर, यदि नृशंसता का खेल खेलना संभव हो, तो क्यों न खेला जाए ? प्राणियों के मरण-चीत्कार को—व्याकुल तड़पन को देखने, बढ़ाने का मनोरंजन लाभ क्यों न लिया जाए ?

☆ प्रश्न स्वास्थ्य का नहीं, संवेदना का

मांसाहार से स्वास्थ्य की विकृति उतनी कष्टदायक नहीं है, जितना उसके द्वारा भावनाओं का अधःपतन और उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए दुष्परिणाम। मनुष्य परस्पर दया, करुणा और उदारता के सहारे जीवित और व्यवस्थित है। इन्हीं गुणों पर हमारी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और संपूर्ण विश्व की सुख-शांति एवं सुरक्षा बनी हुई है। भले ही जानवरों पर सही, जब मनुष्य मांसाहार के लिए वध और उत्पीड़न की नृशंसता बरतेगा, तो उसकी भावनाओं में कठोरता, अनुदारता और नृशंसता के बीज पड़ेंगे और फलेंगे-फूलेंगे ही। कठोरता फिर पशु-पक्षियों तक थोड़े ही सीमित रहेगी, मनुष्य-मनुष्य के बीच भी उसका आदान-प्रदान होगा।

मानवीय भावना का यह अंत ही, आज पश्चिम को दुःखग्रस्त, पीड़ा और अशांतिग्रस्त कर रहा है। यह लहर पूर्व में भी दौड़ी चली आ रही है। वहाँ की तरह यहाँ भी हत्या, लूटमार, बेईमानी, छल-कपट, दुराव, दुष्टता, व्यभिचार आदि बढ़ रहे हैं और परिस्थितियाँ दोषी होंगी, यह हमें नहीं मालूम, पर मांसाहार का पाप तो स्पष्ट है, जो हमारी कोमल भावनाओं को नष्ट करता और हमारे जीवन को दुःखांत बनाता चला जा रहा है। समय रहते यदि हम सावधान हो जाते हैं, तो धन्यवाद अपने आपको, अन्यथा सर्वनाश की विभीषिका के लिए हम सबको तैयार रहना चाहिए। मांस के लिए जीवात्माओं के वध का अपराध मनुष्य जाति को दंड दिये बिना छोड़ दे, ऐसा संभव नहीं, कदापि संभव नहीं।

वैज्ञानिकों एवं चिकित्साशास्त्रियों का मत है कि मांसाहार करने से स्वभाव क्रोधी बनता है, बुद्धि मंद होती है और मानसिक स्थिरता पर अशुभ प्रभाव पड़ता है। क्रोध की अतिरेकता में मनुष्य उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रख पाता, मंदबुद्धिता के कारण उसके निर्णय ही उलटे नहीं होने लगते, बल्कि दृष्टिकोण ही विपरीत हो जाता है। मानसिक अस्थिरता के कारण किसी का किसी छोटी-सी बात पर उत्तेजित हो उठना सहज संभाव्य है। मनुष्य की यह स्वभावगत न्यूनताएँ सामाजिक भावना को शिथिल कर देती हैं। ऐसी दशा में विघटन, विसंगति और विस्फोट की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जो सामाजिक सहजता तथा प्रगति को धक्का पहुँचाती हैं। समाज में अशांति अथवा संघर्ष का जन्म मनुष्यों के दो विपरीत स्वभावों के कारण ही होता है।

इस भिन्नता के कारण कभी-कभी शांतिप्रिय लोगों को भी संघर्ष में उलझ जाना पड़ता है। जो असामाजिक स्वभाव के होते हैं, उनमें उनकी शांति तथा प्रगति की चिंता होती ही नहीं, किंतु इससे भी दुःखदायी बात यह होती है कि समाज के प्रति सद्भावना रखने वालों को भी कभी-कभी आत्म-सम्मान अथवा मर्यादा की रक्षा करने के लिए अन्यथा व्यक्तियों से प्रेरित संघर्ष में उलझना पड़ता है, जिससे उनके द्वारा होने वाले सामाजिक हित को हानि पहुँचती है।

मांसभोजियों के कारण ही मनुष्यों का एक बड़ा वर्ग पशु हत्या के क्रूर कर्म में नियुक्त रहता है। इस वर्ग को बधिक, व्याध अथवा कसाई कहा जाता है। इस वर्ग पर प्रायः क्रूर, निर्दयी तथा अविचारी होने का दोष लगाया जाता है। बहुत सीमा तक यह लांछन सही भी होता है। हत्या कर्म करते-करते इस वर्ग के स्वभाव से करुणा, दया, क्षमा, संवेदना, सहानुभूति, सौहार्द की कोमल भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं और उनका स्थान निर्दयता, क्रूरता, कापुरुषता, असहनशीलता और कठोरता की वृत्तियाँ ले

लेती हैं। जिससे वह ऐसे अनुचित काम करने में संकोच नहीं करते, जो समाज के लिए अहितकर होते हैं और किसी भी सामाजिक व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए।

शिकागो, जो कि अमेरिका का एक बड़ा शहर है, अपने बड़े-बड़े कसाईखानों के लिए संसार में सबसे बढ़ा-चढ़ा माना जाता है। यहाँ के बूचड़खानों में प्रतिदिन लगभग पच्चीस-तीस हजार पशुओं का वध किया जाता है और काटने से लेकर खाल उतारने, मांस पहुँचाने, पशुओं को पकड़कर लोने, खत्ते पर लगाने, रक्त समेटने, ढोने और सफाई करने के साथ मांस काटने, बाँटने और उसका हिसाब-किताब रखने के विभिन्न कामों में लाखों आदमी नियुक्त रहते हैं। यह सबके-सब समान रूप से अकरुण स्वभाव के हो जाते हैं। पशुवध का वह नृशंस हत्याकांड करते, देखते और उसकी जीविका खाते-खाते उनका निर्दयी हो जाना कोई विलक्षण बात नहीं है।

शिकागो के एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी ने अनेक वर्षों अपराधों एवं अपराधियों की जाँच करने के बाद अपनी रिपोर्ट में लिखा है—"अधिकतर अपराध कसाईघरों के कार्य में लगे व्यक्तियों द्वारा ही किए जाते हैं। इस घृणित पेशे को करते-करते इन लोगों की समस्त सद्वृत्तियाँ कुंठित हो जाती हैं और तब वे अक्सर अवसर आने पर मनुष्यों पर छुरी फेरने में नहीं हिचकिचाते।" इस प्रकार मांसाहार के कारण समाज का बड़ा वर्ग हृदयहीन होकर नृशंस बन जाता है, जिससे वह समाज का अहित ही किया करता है। जिसकी सद्वृत्तियाँ नष्ट हो गई हों, जो हृदयहीन होकर दारुण स्वभाव का हो गया हो, वह अशांति, अपराध अथवा अपकार करने वाला न हो, ऐसी आशा करना मरु-मरीचिका के समान एक विडंबना होगी।

एक अपराध केवल एक अपराध तक ही सीमित नहीं रहता। वह शाखा-प्रशाखा में फूट-फैलकर अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार एक के द्वारा अन्य अनेक प्रकार के अपराधों की वृद्धि होते रहने

से समाज की शांति और व्यवस्था को हानि पहुँचना स्वाभाविक ही है। अशांत एवं अव्यवस्थित समाज न कभी प्रगति कर पाया है और न कभी कर पायेगा। कहना न होगा कि समाज की इस अशांति अव्यवस्था का दोष उन मांसभोजियों पर ही जाता है, जिनके लिए पशु काटे जाते हैं और मनुष्य कसाई का काम करके क्रूर एवं असामाजिक बनता है।

मांसाहार अमानवीय भोजन है। उसके खाने से मनुष्य शरीर में पाशविक विकार आ जाते हैं, विभिन्न प्रकारों के रोगों की वृद्धि होती है। जिन बच्चों को बाल्यकाल से ही दया, प्रेम, सहृदयता, सहानुभूति एवं सदाचार की शिक्षा दी जाती है, वे आगे चलकर समाज के हितकारी सदस्य और राष्ट्र के योग्य नागरिक बनते हैं। किंतु जिनमें मांसाहार जैसे क्रूरतापूर्ण कृत्य के द्वारा अकरुण एवं हृदयहीनता की भावना जगा दी जाएगी, उनका समाज के लिए हितकारी सदस्य बन सकना शत-प्रतिशत संभव नहीं। मांसाहार में निरत रखते हुए यदि बच्चों को सुशील नागरिकता की शिक्षा दी भी जाए, तो वह उन पर अधिक प्रभाव नहीं डालेगी। उपदेश अथवा शिक्षा के अनुरूप आचार-व्यवहार का निर्माण करने से ही किसी सद्शिक्षा का वांछित प्रभाव हो सकता है। विद्वानों का मत है कि संसार में फैले दुराचार, दुर्भाव, स्वार्थ और संघर्ष का अस्सी प्रतिशत उत्तरदायित्व मांसाहार पर ही है, जिसे मनुष्य चाव से ग्रहण कर अपनी नैतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हानि कर रहा है।

मांसाहार के कारण समाज में बढ़ने वाली विकृतियों को देखकर अमेरिका के प्रसिद्ध प्रचारक श्री ऐजल ने जो भाव व्यक्त किया है, वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा—"गरीब और अनबोल प्राणियों के वकील की हैसियत से मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि जितना शीघ्र बच्चों को मांस भोजन से विरत कर, उनमें जीव दया और समस्त प्राणियों के प्रति सहानुभूति की भावना जगाने के लिएं शिक्षण-संस्थाओं में

मांगलिक साहित्य का प्रचार किया जाएगा, उतना शीघ्र नाशकारी हिंसा-भावना की जड़ कटेगी। इतना ही नहीं, बल्कि सब प्रकार के अपराधों का मूल नष्ट हो जाएगा। कुकृत्य के बदले दंड देने और जेल में बंद करने से जहाँ एक अपराध को रोका जा सकता है, वहाँ बच्चों को निरामिषभोजी एवं अहिंसक बनाकर आगामी समाज से सारे दुष्ट कार्यों को मिटाया जा सकता है।"

दार्शनिक तथा मानव-मंगल के आकांक्षी महात्मा पैथागोरस ने एक स्थान पर कहा है—"ऐ मौत के आड़े में उलझे हुए इनसान ! अपनी तश्तरियों को मांस से सजाने के लिए जीवों की हत्या न कर। जो पशुओं की गरदन पर छुरी चलवाता है, उनका करुण-क्रंदन सुनता है, जो पाले हुए पशु-पक्षियों की हत्या में मौज मनाता है, उसे अत्यंत तुच्छ स्तर का व्यक्ति ही समझा जाना चाहिए। जो आज पशुओं का मांस खा सकता है; वह किसी दिन मनुष्य का रक्त भी पी सकता है। ऐसी संभावना को असंभव नहीं माना जा सकता।"

❐ ❐

इस क्रूरता में सहायक हम सब

स्वभाव में आई विकृतियाँ अनेकों ढंगों से अपनी तृप्ति के आधार खोजती रहती हैं। मनुष्य के स्वभाव में इन दिनों क्रूरता और निष्ठुरता बुरी तरह घुसी पड़ी है। शिकार से लेकर फैशन तक। विभिन्न तरीकों से निष्ठुरता का नग्न नृत्य होता दिखाई देता है। मांसाहार, व्यक्ति में घुसी क्रूरता और निर्ममता का एक प्रकार है। और भी कई क्रियाकलापों में उसकी क्रूर भावनाओं को व्यक्त होते देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए शिकार को ही लें। बहुत से व्यक्ति मात्र मनोरंजन के लिए ही निर्दोष-निरीह प्राणियों का वध करते रहते हैं। शेर, चीते या अन्य भयंकर खूंखार जंगली जानवरों के शिकार को तो क्षम्य कहा जा सकता है, क्योंकि उससे अन्य बहुसंख्यक उपयोगी जीवों की रक्षा होती है। पर लोग उनके खुंखारपने से भयभीत होकर उन्हें तो नहीं छेड़ते, खरगोश, हिरण, लोमड़ी आदि निर्दोष पशुओं तथा सुंदर पक्षियों का शिकार करते रहते हैं।

विचारशीलता जहाँ भी होगी, वहाँ इस प्रकार के मनोरंजन या व्यवसाय का कोई समर्थन नहीं करेगा। सच्चे अर्थों में तो कोई विचारशील व्यक्ति ऐसा कार्य कर भी नहीं सकता। गौतम बुद्ध जैसे महापुरुष ने अपनी बाल्यावस्था में ही तीर से घायल हंस की रक्षा करके शिकार की प्रथा का विरोध किया था। अन्य भावनाशील व्यक्तियों के अनुभव से ही यही विदित होता है कि शिकार से मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ कुंठित होती हैं और सहानुभूति तथा सहयोग के गुणों का ह्रास होता है। इस संबंध में 'टर्जबीफ' नामक रूसी लेखक ने अपना अनुभव लिखते हुए कहा है—

"मैं जब दस वर्ष का था, तो मेरे पिता एक दिन मुझे अपने साथ शिकार करने को ले गये। जंगल के समीप पहुँचने पर एक सुनहरे रंग का जंगली तीतर फरफराहट करता दिखाई दिया।

उसी समय मैंने अपनी छोटी बंदूक ऊँची करके चला दी और तुरंत ही वह पक्षी लुढ़कता, फुदकता, तड़पता हुआ मेरे समीप आ गिरा। उस मादा पक्षी का प्रेम, मृत्यु वेदना की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ था। उसके शरीर से प्राण निकल ही रहे थे, फिर भी बच्चों के पास वह अपनी बची-खुची शक्ति लगाकर अपने घोंसले तक पहुँच गया। वहाँ उसके छोटे बच्चे, जो अभी तक भय से अनजान थे, उसे देखकर खुशी से चहचहाने लगे। वह मादा अपने बच्चों की रक्षा के लिए घोंसले का द्वार अपनी पंखों से बंद करके वहीं पड़ी रही। मैं वहीं खड़ा हुआ यह हाल देखता रहा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर ताकती हुई, चोट पहुँचाने के लिए मुझे उलाहना दे रही है और बच्चों की रक्षा करने के लिए विनय कर रही है। मैं अपने को अपराधी समझकर हृदय में पश्चात्ताप करने लगा। इतने में उस पक्षी का प्राण उड़ गया। वह अपने घोंसले के समीप ही नीचे गिर गई। मैंने भयभीत होकर अपने पिता की तरफ देखते हुए कहा—"पिताजी ! यह मैंने क्या कर डाला !" पिता ने कहा "प्रिय ! तूने ठीक किया। बंदूक चलाने का प्रथम अवसर होने पर भी तेरा निशाना ठीक लगा; थोड़े समय में ही तू अच्छा शिकारी बन सकेगा।" मैंने उत्तर दिया—"नहीं पिताजी ! नहीं, अब मैं कभी ऐसा कार्य नहीं करूँगा। मैं कभी किसी जीवित प्राणी का विनाश नहीं करूँगा। अगर आप इसे मनोरंजन कहते हों, तो मुझे उसकी जरूरत नहीं। मुझे मृत्यु की अपेक्षा जिंदगी प्रिय है। किसी को जिंदगी दे नहीं सकता, तो मुझे उसके लेने का क्या अधिकार है ?"

कुछ लोग स्वयं तो शिकार नहीं करते, पर शिकारियों द्वारा मारे गए, शेर, बारहसिंघा, जंगली भैंसा आदि के चेहरों को मसाले द्वारा सुखाकर सजावट के तौर पर घर की दीवारों पर टाँग देते हैं। इसी प्रकार छोटे घड़ियालों और अन्य कई जंतुओं को भी मुर्दा हालत में भुस आदि भरकर सजावट के काम में लाया जाता है। यह कार्य प्रकट में विशेष दूषित नहीं जान पड़ता, पर ऐसी वस्तुओं

पर सदैव दृष्टि पड़ते रहने से, ऐसे जीवों के जीवन-मरण के प्रति उपेक्षा की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है और करुणा की भावना का नाश होता है। खासकर जो बालक छोटी अवस्था से ही ऐसे वातावरण में रहते हैं, वे पशुओं को भी अपने आमोद-प्रमोद के जड़ पदार्थों की तरह समझने लगते हैं और बड़े होने पर उनमें शीघ्र हिंसा और पशुओं के प्रति निर्दयता की भावना का उदय हो जाता है।

मनोरंजन के लिए इन प्राणियों के निर्मम वध को तो फिर भी किसी प्रकार अयुक्त ठहराया जा सकता है। विचारशील व्यक्तियों को इन भूलों की ओर आकृष्ट किया जा सकता है, परंतु विज्ञान और आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ पशुओं पर अत्याचार की ऐसी पद्धतियाँ भी चल पड़ी हैं कि कई बार तो वे आवश्यक लगती हैं।

उदाहरण के लिए विज्ञान की प्रयोगशालाओं में परीक्षण के लिए पशु-पक्षियों पर होने वाले अत्याचारों को ही लें। आजकल शिक्षण-संस्थाओं में स्कूलों और कॉलेजों में जीव-विज्ञान की शिक्षा के नाम पर जो 'विविसेक्शन' पद्धति प्रचलित है। इसके लिए मेढक, खरगोश और अन्य कई प्रकार के जीवों को काटकर, जलाकर, तपाकर, टुकड़े-टुकड़े करके, बिजली का झटका देकर तरह-तरह के परीक्षण किए जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा के नाम पर निर्बल प्राणियों के साथ जो घातक व्यवहार किया जाता है और उनको कष्ट पहुँचाकर मारा जाता है, यह निंदा के योग्य कार्य है। अनेक विदेशी विद्वानों ने इसको अनावश्यक बतलाया है और कहा है कि इस तरह कोई निर्दयता और अनैतिक परीक्षण किए बिना भी शिक्षा दी जा सकती है। खासकर छोटी अवस्था में बालकों के सम्मुख इस प्रकार का उदाहरण उपस्थित करने से उनकी श्रेष्ठ मनोवृत्तियों का हनन होता है और अपने भावी जीवन में विशेष स्वार्थी और अन्य लोगों के सुख-दुख के प्रति उपेक्षा का भाव रखने वाले बन जाते

हैं। यह बात सामाजिक कल्याण की दृष्टि से बहुत हानिकारक है। यदि कोई शिक्षा की दृष्टि से इसको अनिवार्य भी मानते हों, तो ऐसे प्राणियों को विद्यार्थियों के सामने मृत अवस्था में लाकर शारीरिक अंगों का ज्ञान कराना चाहिए।

यही बात औषधियों के लिए मारे जाने वाले प्राणियों के संबंध में भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिए 'काड लिवर आयल' बनाने के लिए लाखों मछलियों को नष्ट किया जाता है, और भी बहुत-सी दवाएँ पशु-पक्षियों को मारकर तैयार की जाती है। तो भी रोगों का ठीक इलाज नहीं हो पाता। क्योंकि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के शारीरिक संगठन में कई प्रकार का अंतर पाया जाता है। इसलिए पशुओं के द्वारा बनाई गई औषधियाँ, एक अनिश्चित परीक्षण के रूप में ही ग्रहण की जाती हैं। रोगी का वास्तविक इलाज तो संयम और प्रकृति के नियमानुसार जीवन निर्वाह करना है, पर पहले तो तरह-तरह के अनाचारों, विपरीत रहन-सहन के परिणामस्वरूप रोगी बनना और फिर उन रोगों से छुटकारा पाने के लिए निरपराध जीवों का बुरी तरह से नाश करना। प्रत्यक्षतः अन्याययुक्त और पागलपन का काम है।

मनुष्य जाति की इस क्रूरता और बर्बरता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि अकेले ब्रिटेन में चिकित्सा संबंधी खोजों में एक वर्ष में ५० लाख पशुओं और जीव-जंतुओं का जीवन नष्ट किया जाता है, इनमें से ८७ प्रतिशत वे जीव होते हैं जिनकी चीरफाड़ सीधे बिना बेहोश किए होती है। उसे हत्या नहीं; क्रंदन, तड़पन और घोर उत्पीड़न ही कहना चाहिए। निरीह प्राणियों की यह मूक व्यथा, क्या आकाश को शुद्ध और शांत रख सकेगी ? उससे प्राकृतिक परमाणुओं में ऐसी हलचल होगी, जो पृथ्वी को उद्दंड और उच्छृंखल मानवों से पाट देगी। विषाणुओं की मात्रा इतनी बढ़ जाएगी कि हत्या-उत्पात से जो बचेंगे, उन्हें

बीमारियाँ खा जाएँगी और इस तरह वर्तमान विज्ञान सामूहिक आत्महत्या के दुःखद अंत में बदल जाएगा।

यह इसलिए कहा जा रहा है कि पशु-पक्षियों पर परीक्षण प्रयोगों की पद्धति जितनी क्रूर होती है, उसे बर्बर और नृशंस ही कहा जा सकता है। ऐसे कुछ परीक्षणों का विवरण दृष्टव्य है।

एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला की ओर आपको ले चलना चाहेंगे, जहाँ आपके लिए दवाएँ बनती हैं। जहाँ औषधि, शारीरिक क्रिया, अंतरिक्ष आदि के प्रभाव को जानने के लिए परीक्षण किए जाते हैं। वहाँ तरह-तरह की पीड़ा और यंत्रणाएँ देते हुए पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों के साथ हो रही निर्दयता को आप देखेंगे तो कहेंगे, इन सुविधाएँ और उपलब्धियों की अपेक्षा हम अभावग्रस्त रहे होते, तो कहीं अच्छा था।

हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में एक प्रयोग चल रहा था। कई कुत्तों को जंजीर से बाँधकर आग की लपटों में फेंक दिया गया। ५-७ दिन तक कुत्ते चिनगारियों में तड़प-तड़प कर झुलसते रहे। उस अवस्था में भी उनको जान से नहीं मारा गया, क्योंकि वहाँ प्रोफेसरों को उद्वेगों की उत्पत्ति पर परीक्षण करना था। ऐसे ही एक प्रयोग में कोलंबिया विश्वविद्यालय में कुत्तों के हाथ-पैरों को हथौड़ों से इस तरह कूटा और कुचला गया, जिस तरह लोहार लोहे को घन से पीटता है।

अधिकांश कुत्ते उसी दिन मर गए। तीन कुत्ते बचे, उन्हें अगले दिन फिर प्रयोगशाला में लाया गया। बेचारों ने घुट-घुट कर प्राण त्यागे। प्रयोगों के दरम्यान इन्हें पीटना, भूखों मारना, जलाना, सर्दी में ठिठुराना, आँखें फोड़ना, जब तक थककर बेहोश न हो जाएँ—दौड़ाना, पानी में डुबो देना, सोने न देना, चमड़ी उधेड़ लेना, शरीर के किसी अंग को विषाणुओं के इंजेक्शन देकर उस हिस्से को सड़ाकर इंजेक्शन तैयार करना, शरीर को जीवित काटकर अनेक प्रकार की चर्बी और औषधियाँ

प्राप्त करना, यह सब अंधी कोठरियों में होता रहता है, विज्ञान के विकास के लिए।

१६२८ से जान हापकिन्स यूनिवर्सिटी के अन्वेषक बिल्लियों पर प्रयोग कर रहे हैं। उनकी चमड़ी पकड़कर नोंचा और झकझोरा जाता है, कान और पूँछ खींची जाती हैं, पिटाई की जाती है। यह सब केवल इसलिए किया जाता है कि ऐसा करते समय जीवाणुओं की हलचल का पता लगाया जा सके। एक बार एक बिल्ली की पूँछ को भींचकर किसी औजार से इतना दबाया गया कि खून छलछला उठा। यह बिल्ली १४० दिन जिंदा रही। इस बीच उसे लगभग १०० दिन इसी तरह उत्पीड़ित किया गया। एक बार कई कुत्ते ६५ दिन बिल्कुल भूखे रखे गए। उनके मर जाने के बाद मालूम हुआ कि वैसा ही प्रयोग पहले भी किया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि इस तरह के भयंकर प्रयोग इतने छुपाकर किए जाते हैं कि पड़ोसी अध्यापक भी नहीं जान पाते।

अमेरिका के वाल्टर अस्पताल में बंदरों को ६-६ घंटे बेहोश रखा गया। चेतना आने पर उनके मस्तिष्क का कुछ अंश काटकर उनमें बिजली के करंट दौड़ाए गए। बंदर बुरी तरह चीखते। कई बार ६-६ घंटे तक लगातार बिजली का करेंट डालकर बंदरों को तड़पाया गया। बंदर उछल-कूद करते हैं, तो उन्हें ऐसी निर्दयता से बाँधा जाता है कि वे हिलडुल तक न सकें; उस समय उनकी आँखें, मुँह और चिल्लाहट से ही उनके भय, कष्ट और पीड़ा को आँका जा सकता है। प्रयोग के बाद न उन्हें कोई भोजन, न पानी, न हवा, न ओषधि; बेचारे तड़प-तड़पकर प्राण देते हैं और मनुष्य जाति को आशीर्वाद देते विदा होते हैं—"अरे निर्दय मनुष्य, तू किसी का दर्द नहीं जान सकता, तो तेरी भी दुर्गति ही होगी।"

नन्हा-मुन्ना-सा कोमल बालों वाला एक छोटा-सा खरगोश जिसकी आँखों से करुणा ही करुणा टपक रही थी, रस्सी बँधा

बैठा था। एक महाशय ने कन्सन्ट्रेटेड नाइट्रिक एसिड या कन्सन्ट्रेटेड सल्फ्यूरिक एसिड जैसा कोई तेज रसायन उसके कानों में डाल दिया। निरीह खरगोश बुरी तरह तड़फड़ा उठा, पर भागने और प्राण बचाने के लिए स्थान वहाँ कहाँ था ? वह भावनाविहीन असुरत्व की काल-कोठरी में जकड़ा हुआ केवल तड़पता रहा।

रसायन के प्रयोग से कान के पास की सब नसें उभर आईं। उन महाशय ने एक चाकू निकाला और उस उभरे हुए हिस्से में घुसेड़ दिया। रक्त तेजी से बह निकला। उससे बोतलें भरी जाने लगीं। खरगोश की देह का सब रक्त निकल आया, तो उसे चिमटे में दाबकर इस तरह फेंक दिया, जिस तरह नीबू का रस निचोड़ लेने के बाद छिलके को फेंक देते हैं।

जीवित खरगोश को मारकर उसकी आँत निकाल लेते हैं और उस पर नवनिर्मित दवाइयों का प्रभाव देखते हैं। चिकित्सा-अनुसंधान के क्षेत्र में ऐसी हिंसा तो सामान्य बात है। कुत्ते के दिल, मेंढक के दिल, कबूतर के दिल और गिनीपिग के गर्भाशय (यूटॅरस) में भी दवाओं के प्रभाव देखे जाते हैं। उन परीक्षणों के समय इन जीवों को जो मर्मांतक पीड़ा होती है, उसका वर्णन नहीं हो सकता।

अमेरिका की एक प्रयोगशाला में खरगोश का कान काटकर कोशिकाओं (कैपिलरी) पर दवा का प्रभाव देखा जा रहा था। दवा इतनी तीक्ष्ण थी कि प्रत्येक बार के प्रयोग से खरगोश टट्टी-पेशाब कर देता, उसकी चीख सुनकर बाहरी लोगों के रोंएँ खड़े हो जाते, पर उन्हें तब भी कुछ दया न थी, जो उन पर दवाओं के नाम पर यह क्रूर अत्याचार कर रहे थे।

आँख की औषधियों की जाँच के लिए खरगोश की आँखों की पुतलियों पर दवाएँ छोड़ी जाती हैं। कई बार तो उनकी जिंदा आँखें बाहर निकल आती हैं। बेचारे जीव की जान जाती है और उसकी पुतली के घटने-बढ़ने से वैज्ञानिक अपना अनुमान लगाते

हैं। इतना ही नहीं, खरगोश और गिनीपिग के शरीर छील दिए जाते हैं। छीलना बालों का नहीं, खाल का भी होता है। खून चहक आता है, तब उस पर दवाएँ लगाकर उनका हिप्नोटिक रिएक्शन देखा जाता है। फिर उस कटे हुए स्थान पर सुइयाँ चुभोकर देखते हैं कि वह चिल्लाता है या नहीं। हमें एक काँटा चुभ जाता है, तो हमारी आँखें छलछला आती हैं और सृष्टि के इन निरीह जीवों पर औषधि के नाम पर इस तरह क्रूर अत्याचार किया जाता है, इस पर किसी की दृष्टि नहीं दौड़ती।

एक और सज्जन का परिचय पाने के लिए आपको अमेरिका चलना पड़ेगा। लीजिए एक और दरवाजा खोलिये। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग चल रहा है। यह देखना है कि शरीर से अलग रहकर भी क्या मस्तिष्क काम कर सकता है ? इसी का अध्ययन करने के लिए लिब्बी बंदर को मेज पर जकड़कर बाँध दिया गया है। किसी मनुष्य का आपरेशन करना हो, तो उसे बेहोश किया जाता है। पर यहाँ तो परीक्षण चल रहा है। बेहोश किये बिना बंदर का आपरेशन किया गया। वह इस कदर चीखा-चिल्लाया और छटपटाया कि सारा कमरा वीभत्सता से भर गया। किंतु जंजीरें टस से मस न हुईं। मस्तिष्क काटकर शरीर के एक हिस्से में सीं दिया गया। मस्तिष्क काट देने के बाद भी ५ घंटे तक चेतनशील रहा, उतने समय कोंचने, चुभाने, नोंचने, काटने के अनेक प्रयोग चलते रहे, तब कहीं जाकर बंदर को मुक्ति मिली अर्थात् वह मर गया और लाश बिजली की भट्टी में झोंक दी गयी।

ऐसा ही एक प्रयोग रूस के एक शल्य-वैज्ञानिक ने किया। एक कुत्ते की गर्दन कलम करके एक दूसरे एल्सेशियन कुत्ते की गर्दन में जोड़ दी गई। दोनों कुत्ते एक ही शरीर में जी रहे हैं।

डिजी-टेलिस, औषधियाँ जो हृदय-रोगों के लिए बनाई जाती हैं, उनका प्रभाव कबूतरों पर देखा जाता है। दर्जनों कबूतरों पर एक साथ यह औषधि इंजेक्शन कर दी जाती है। इंजेक्शन देने

के बाद यदि आधे से अधिक कबूतर मर जाते हैं, तो यह माना जाता है कि दवा अच्छी बन गई अन्यथा इसे फिर से बनाते हैं। रोग प्रकृति की नहीं, मानव स्वभाव की विकृति है। अपने बुरे आचरण का दंड मनुष्य को भोगना ही चाहिए, चाहे वह शूल के रूप में हो या बीमारी के रूप में। उसे अपने खातिर जीव-हत्या करने का अधिकार नहीं हैं। यदि वह बलात् ऐसा करता है, तो आज तो उसका दंड कम ही है। अगले दिनों मनुष्य जाति अपने ही उद्धत स्वभाव के दुष्परिणाम अब की अपेक्षा सौ गुने अधिक भोगेगी।

शारीरिक प्रतिक्रिया की जाँच के लिए चूहे, खरगोश, मेंढक, बंदर आदि के सिर, हाथ-पाँव में डंडे मारते हैं और फिर देखते हैं—उन पर क्या प्रभाव पड़ा ? मेंढक को तो गेंद की तरह उछालकर पटका भी जाता है। पूँछ पकड़कर खींची जाती है, शिकंजों में कसकर दाबा जाता है और इतना दाबा जाता है कि नींबू के रस की तरह रक्त छलछला आता है।

❐ ❐

क्रूरता स्वभाव बन गई तब

चूहे, मेंढक और छोटे-छोटे कीड़ों को काटना तो अब साधारण बात हो गई है। इस तरह की घटनाएँ, पद्धतियाँ आम होती जा रही हैं और कोई आश्चर्य नहीं कि किसी दिन मनुष्यों को भी इसी प्रकार काटा जाने लगे। अमेरिका के डॉ० नारमन बारसली एम० डी० ने कुछ वर्ष पूर्व एक पुस्तक लिखकर लोगों को दाँतों तले अंगुली दबाने के लिए विवश कर दिया था। घटना इस प्रकार है—एक महिला को आपरेशन थियेटर में लाया गया। पेट का आपरेशन होना था। जो सर्जन आपरेशन करता है, उसके सहयोगी डॉक्टर और प्रशिक्षित नर्सें भी साथ रहती हैं। महिला के शरीर पर बहुत हल्का कपड़ा पड़ा था। उससे उसका वह उदर भाग साफ दिखाई दे रहा था, जिसका आपरेशन होना था। डॉक्टर और नर्सों ने एक-दूसरे की ओर ताककर आश्चर्य व्यक्त किया कि सर्जन साहब तो कह रहे थे कि पेट में गाँठ है, गाँठ का आपरेशन होना है।

पर यह स्त्री गर्भवती है। कोई धोखा तो नहीं ।

उनमें से एक डॉक्टर अपने आश्चर्य को रोक नहीं सका। उसने दबे शब्दों में पूछ ही लिया—साहब ! आपरेशन करने से पहले रोगिणी की पूरी जाँच कर ली गई है ? इस पर विशेषज्ञ सर्जन साहब का चिढ़ना स्वाभाविक ही था। यह दुनिया ही ऐसी है कि इसमें हर ऐसे व्यक्ति को महत्त्व देना भी "तहजीब" का एक भाग है।

यह घटना अमेरिका की है और यदि क्रूरता की आत्मा को धिक्कारने वाले डॉक्टर नार्मन बारसली एम० डी० ने इस रहस्य को खोला न होता, तो शायद संसार चौंकता भी नहीं और न ही उपरोक्त कथन की सत्यता की ओर उसका ध्यान जाता। उन्होंने ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक "मेडिकल चांस एंड क्राइम" में किया है। जिस महिला का यहाँ

आपरेशन हो रहा था, वह एक इटैलियन स्त्री थी। कुछ दिन पूर्व उसे गर्भपात हो गया था, उसके बाद ही उसने दुबारा गर्भ धारण किया था, पर उसे समझ नहीं पाई थी। गाँठ समझकर उसने डॉक्टर को दिखाया था। उन दिनों वह सर्जन भ्रूण संबंधी किसी अन्वेषण में जुटे थे। इनाम और नामवरी का लोभ भी मनुष्य से कैसे-कैसे पाप कराता है ? ताजे भ्रूण के लिए सर्जन ने इसे अच्छा अवसर समझा और यह जानते हुए भी कि इस आपरेशन से महिला की मृत्यु हो जायेगी, उन्होंने अंत तक गाँठ बताकर ही उसका आपरेशन किया।

सहयोगी डॉक्टर को अपनी नौकरी से हाथ तो धोना नहीं था, जो किसी तरह और प्रतिवाद करता। कदाचित् वह विरोध करता भी तो और डॉक्टरों की तरह एक नई जानकारी में सम्मिलित होने की सफलता पर उसे गर्व करने का अवसर कहाँ मिलता ? सर्जन ने सबके देखते-देखते पेट की गाँठ, जिसमें एक बालक पनप रहा था। काटा और एक थैले में भरकर बिना किसी को दिखाए कार में रखा और प्रयोग के लिए अपनी घर की प्रयोगशाला में ले गया। उस महिला ने चौथे-पाँचवें दिन तड़प-तड़प कर अपने प्राण त्याग दिए।

अभी तक हम यही पढ़ते और सुनते आए थे कि आजकल प्रयुक्त होने वाली औषधियों में रोगी मनुष्य के मल-मूत्र, वमन, रक्त, थूक तक का प्रयोग होता है। खटमल, पिस्सू, जुएँ, खरगोश, गिनीपिग, चूहे, मेढक, बंदर, सूअर, गाय, ऊँट, घोड़े आदि के शरीर काटकर, सड़ाकर, इंजेक्शन और औषधियाँ बनाने की बातें अब पुरानी पड़ गईं। अब तो दवाओं के ऊपर लिखा भी रहता है। "स्वस्थ और खाने योग्य पशुओं की ग्रंथियों से निकाली गई (फ्राम फ्रेश ग्लैंड्स ऑफ हेल्दी फूड एनीमल) औषधि। यही क्यों पुरुष और स्त्री की ग्रंथियों—डिंबकोश, स्तन, पिट्यूटरि ग्रंथि, थायरायड, स्यूँप्ररीनल, थायमस, क्लोम, पीनियल ग्रंथियों से भी औषधियाँ बनने लगीं। इन औषधियों में तुरंत जन्मे बच्चे के नाड़े को भी नहीं

छोड़ा गया। अमेरिका की एक औषधि निर्माता फर्म जी० डब्ल्यू० कर्णिक कंपनी ऐसी औषधियाँ बड़ी तेजी से बनाती चली जा रही है। जिसमें मनुष्य के भी पेट, हृदय, फेफड़े, यकृत, रीढ़ के अंगों के साथ और रसों का प्रयोग होता है। यह वस्तुएँ किस तरह उपलब्ध की जाती होंगी ? इसका रोमांचकारी विवरण जब भी सामने आयेगा, लोगों के दिल दहल जायेंगे। इन औषधियों के लिए एक दिन व्यापक रूप से नृशंस जन-मारक प्रयोग चल पड़ें, तो क्रूर और निर्दयी व्यक्ति तो अपने पुत्र और पत्नी की भी हत्या कर सकता है, जन साधारण को तो वह अपना चारा ऐसे ही मानेगा जैसे अफ्रीका और ब्राजील के कुछ इलाकों में आज भी कुछ नरभक्षी आदिवासी पाए जाते हैं। भूल से कोई यात्री उन प्रदेशों में पहुँच जाएँ, तो फिर उसका लौटना मुश्किल हो जाता है। आदिवासी उन्हें मारकर खा जाते हैं। वोलीविया (ब्राजील) में कई पर्वत शृंखलायें ऐसी हैं, जहाँ ऐसे आदिवासी पर्याप्त संख्या में पाए जाते हैं। विश्व प्रसिद्ध फ्रांसीसी पुरातत्त्व अन्वेषक कर्नल फ्रासेट और डॉ० एरिक जैसे व्यक्तियों को भी यहाँ के आदिवासियों ने चट कर लिया था।

प्रयोग, परीक्षण और मानवसेवा के नाम पर जीवों की जो हत्या की जाती है। उससे आज का 'सभ्य' कहलाने वाला युग आँख मूँद सकता है। पर आत्म-चेतना चुप होकर बैठ नहीं सकती। आज का विज्ञानवादी मस्तिष्क इस बात पर गौरव अनुभव कर सकता है कि उसने अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। किंतु उसे अपने आत्मिक पतन की खबर नहीं है। किस प्रकार कुरूपता और भयंकरता बढ़ रही है, इसका उन्हें अनुमान भी नहीं है। बुद्धि में पाशविक तत्त्वों की अभिवृद्धि उन्हें किस प्रकार भावनाओं की चेतनता से दूर लिए जा रही है। दवाइयाँ १० प्रतिशत—रोग २५ प्रतिशत। बुद्धि सवायी हुई, तो पागलपन ड्योढ़ा बढ़ रहा है। आत्महत्याओं की संख्या तेजी से बढ़ रही है। हत्याएँ, लूट-पाट, विश्वासघात, शोषण, उत्पीड़न आदि छल की

बाढ़ आ गई और भ्रष्टाचार, चोरी, बेईमानी और ठगी के द्वारा एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य से इतनी दूरी पैदा कर ली है कि पास-पास रहते हुए भी उनमें न प्रेम है, न सहानुभूति, न विश्वास। सब अपनी-अपनी घात में रहते हैं। अविश्वास-अविश्वास। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, बहन-भाई, सौदागर-खरीदार, नेता, प्रजा सब एक दूसरे से खिंचे हुए हैं। यह सब आत्म-चेतना में पाशविक दुर्बुद्धि छा जाने का ही परिणाम है।

इन दवाओं का मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। दवाओं के प्रभाव से शरीर में कुछ रासायनिक परिवर्तन हो जाने के कारण थोड़ी देर के लिए स्वास्थ्य भले ही कुछ सुधरता दिखाई दे, परंतु दवाओं पर प्राणियों की चीत्कार उनकी पीड़ा के जो संस्कार बन जाते हैं, वे और भी नए रोग खड़े कर देते हैं। कुछ मानवतावादी वैज्ञानिकों ने इस प्रकार तैयारी की गई दवाओं के प्रभावों की शोध की, और बताया है कि प्राणियों पर क्रूरता बरतकर तैयार की जाने वाली सभी दवाएँ विषाक्त हो जाती है। अमेरिका के नेचुरल हाईजीनिक सोसाइटी के डॉक्टर शेल्टन ने रहस्योद्घाटन किया है कि पशु अंगों से बनाई जाने वाली दवाएँ तत्काल भले ही कुछ लाभ करती हों, पर पीछे, लकवा, केंसर, स्नायु विघटन जैसे भयानक रोग उत्पन्न करने का कारण बनती हैं। घोड़े-से बनाए गए सीरम का उपयोग करने वाले रोगी, बड़ी मात्रा में लकवे के शिकार हुए हैं।

आज औषधि जगत् में सल्फानोमाइड और ऐंटिबायोटिक दवाओं की प्रसिद्धि से सब परिचित हैं। किंतु उनके घातक प्रभाव को कम ही लोग जानते होंगे। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित एक पुस्तक में इन औषधियों के विषाक्त प्रभाव की चर्चा की गई है। मई १९५६ के मेडीकल वर्ल्ड में ए० मेलविन रेमजे, एम० ए०, एम० डी०, रायल फ्री हॉस्पिटल लंदन के कीटाणुजन्य रोग विभाग के चिकित्सक ने भी इनके प्रयोग को बद करने की चेतावनी दी है। "लांसेट" के संपादक ने अंक दो वर्ष १९५५ में

लिखा है कि इन दवाओं के प्रयोग से अस्पतालों में अनेक रोग फैल रहे हैं जैसे—न्यूमोनिया और आँतों की सूजन। १ सितंबर १९५६ के लांसेट के पृष्ठ ४४० पर पेनिसिलीन के घातक प्रभावों का वर्णन है। अमेरिका में १९५४-५५ और १९५६ की जाँच की गई और यह पाया गया कि देश भर में एंटिबायोटिक दवाओं से २९९५ लोगों पर घातक प्रतिक्रिया हुई, १०७० व्यक्ति तो बुरी तरह पीड़ित हुए ६०१ का अंत हो गया। जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडीकल एसोसिएशन में डॉ० डब्ल्यू हेरता ने लिखा है "इन दवाओं से अनेक नई बीमारियाँ पैदा होंगी" (१९५६ अंक १६८ १८७५)। इसी लेख में उन्होंने एक घटना का उल्लेख भी किया है, जिससे विदित होता है कि विषाक्त प्रभाव से जन्म लेने वाली दवाइयाँ संतान को भी लूली-लँगड़ी बना देता है—

एरिजोना (अमेरिका) की श्रीमती फिकबाइन को थैलिडोमाइड की टिकियाँ दी गईं। दवा ने हृदय को प्रभावित किया। वह गर्भवती थीं, डॉक्टरों ने बताया कि उन्हें जो संतान होगी, वह लँगड़ी-लूली होगी। फिकबाइन ने बच्चे के भ्रूण को ही मार डालने का निश्चय किया, पर एरिजोना में गर्भपात अपराध है, इसलिए उसने स्वीडन जाकर गर्भपात किया। इस नींद लाने वाली दवा के कारण लँगड़ी-लूली संतानों की संख्या विदेशों में तेजी से बढ़ रही है। यह सब वर्तमान विज्ञान की दोहरी देन है। एक ओर तो भावनाओं का गिर जाना और दूसरी और जहरीले पदार्थों को शरीर में पहुँचना। इससे अधिक तो वह अल्प-विकसित देश ही सुखी हैं, जिनमें विज्ञान का प्रसार उतना नहीं हुआ। थैलिडोमाइड ही नहीं, डाइएथिलीन ग्लाइकोज, स्टालिनोत आदि औषधियों ने हजारों की जानें लीं और अनेक अष्टावक्र पैदा किए हैं।

जर्मनी के ओचबिज स्मारक को अभी युगों तक भूला न जा सकेगा, यह वह स्थान है, जहाँ ४० लाख लोगों को नाजियों ने एक साथ मृत्यु के घाट उतार दिया था। उससे क्रूर अत्याचार मानव-जाति के इतिहास में नहीं हुआ है, किंतु आधुनिक विज्ञान

उससे भी बड़े अत्याचारों की तैयारी कर रहा है। फिलहाल संसार कम से कम २० खरब रुपये प्रतिवर्ष शस्त्रास्त्रों पर व्यय करता है। ये ऑकड़े १९८० के हैं। आजकल की महँगाई में कीमत पूर्व की तुलना में कम से कम आठ से दस गुनी बढ़ी है। फिर युद्ध के लिए कम से कम अमेरिका, रूस, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत राष्ट्रों के पास परमाणविक अस्त्र ही लगभग ५० हजार से ऊपर हैं। जिनकी लागत कीमत खरबों रुपये है। एक ब्रिटिश विमानवाहक जंगी जहाज ८६½ करोड़ रुपये में पड़ता है, जबकि ५३ करोड़ रुपये से मिश्र के प्रत्येक नागरिक को शुद्ध जल की व्यवस्था की जा सकती है। इतनी रकम से ६०० अच्छे देहाती अस्पताल खोले जा सकते हैं। एक एटलस मिसाइल लगभग ४० करोड़ रुपए का पड़ता है, इतनी पूँजी को यदि नाइट्रोजन खाद का कारखाना बनाने में लगा दिया जाए, तो उससे ५० से ७० हजार टन वार्षिक उत्पादन वाला कारखाना तैयार हो सकता है। एक पोलारिस मिसाइल ब्रिटेन के चार विश्वविद्यालय, एक ए० वी० बमवर्षक से सात सौ सेकेण्डरी स्कूल, एक टी० एस० आर० २ से ५० सर्वसाधन संपन्न अस्पतालों का एक वर्ष का खर्चा चल सकता है। एक मिसाइल विध्वंसक की कीमत से एक लाख ट्रैक्टर खरीदे जा सकते हैं। इतनी भारी शक्ति, विज्ञान ने केवल मानवीय सभ्यता के विनाश के लिए तैयार की है और उसके प्रयोग के बाद कैसी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न होगी, उसका अभी अनुमान बाकी है। जब ये सब वस्तुएँ बन रही हैं, तो परिणाम भी किसी न किसी दिन निकलना ही है।

गांधी जी की अहिंसावादी नीति के समर्थक डॉ० हाल्डेन उन व्यक्तियों में से थे जिन्होंने प्रयोगशालाओं और बूचड़खानो में होती हुई निर्दयता को देखा था और उनका हृदय करुणा से भर गया था। तभी उन्होंने कहा था—प्राणियों पर प्रयोग करने की अपेक्षा मनुष्य स्वयं पर या अपने मित्रों पर प्रयोग करके कहीं अधिक सही परिणाम उपलब्ध कर सकते हैं।" प्रसिद्ध जीवशास्त्री डॉ० जे०

बी० एस० डाल्टेन ने अनुरोध किया था—"मनुष्य स्वपीड़न का अनुभव करके पर-पीड़न का अनुभव करे, तो उसे पता चले कि वह कितना बड़ा पाप प्रयोगशालाओं में विज्ञान के नाम पर कर रहा है। लोगों को और विशेष रूप से भारतीयों को अहिंसा की पद्धति से विज्ञान का विकास करना चाहिए, क्रूरता, नृशंसता और हत्या की पद्धति पर नहीं, क्योंकि उससे मानवीय गुणों का अंत होता है। जिस दिन ये गुण नहीं रहेंगे, उस दिन मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु हो जाएगा।"

हमारे ऋषि महान् वैज्ञानिक थे। उन्होंने गणित और सूक्ष्म बुद्धि से ब्रह्मांड की उन शक्तियों का पता लगाया था, जिनके आगे चंद्रमा की यात्रा बहुत छोटी है। औषधियों के जितने सात्त्विक प्रयोग और परिणाम एवं नाम हमारे सुश्रुत। चरक और माधव निदान आदि ग्रंथों में है, उनका एक अंश भी एलोपैथिक चिकित्सा में नहीं। सर्जरी का विकास भी भारतवर्ष में हुआ था। उसके लिए लोग अपने शरीर दे देते थे, पर कभी किसी जीव को मारा या सताया नहीं जाता था। क्योंकि वे जानते थे कि उत्पीड़न और पर-पीड़न एक ऐसी सत्ता है, जो चैतन्य विद्युत् की तरह हैं, जो अंततः मानवजाति को ही नष्ट कर डालती हैं। मनुष्य को यह खतरा मोल न लेकर, भावनाओं की अभिवृद्धि द्वारा अपनी सुख-शांति बढ़ानी चाहिए, यही सनातन नियम और मनुष्य का शाश्वत धर्म है।

चेतन सृष्टि परमात्मा की समीपस्थ मित्र और सखा है। उसको जितना ही सताया जाता है, उतना ही उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और जितना क्षोभ उत्पन्न होता है, उतना ही वह सताने वालों का अपकार करता है। आज संसार में जो अशांति हो रही है; कलह, लड़ाई, बीमारी और दुष्काल हो रहे हैं, उस सबका कारण चेतन क्षोभ ही है। इन विभीषिकाओं को देखकर ही प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक एडल्फ जस्ट ने अपनी 'रिटर्न टू नेचर" पुस्तक में यह उद्धृत किया है कि, मनुष्य यदि परपीड़न की दुष्प्रवृत्ति से

अपने को रोकता नहीं, तो एक दिन भयंकर विस्फोट होगा और मनुष्य जाति परस्पर एक-दूसरे को मारकर खा जाएगी।

मानव जाति को इस क्रूरता से बचाने का एक ही उपाय है और वह है करुणा का उभार। वस्तुतः संसार में अहंकार नहीं, आत्मभावना का विस्तार ही सुख-शांति और प्रसन्नता का स्थिर आधार है, भावनाओं की सरसता के आधार पर लोग अभाव में भी हँसी-खुशी और मस्ती का जीवन जीते हैं। नारियाँ अपने पति, अपने पुत्रों के लिए दिन भर तप करती रहती हैं। कभी कभी तो उन्हें भली प्रकार भोजन भी नसीब नहीं होता। रूखा-सूखा खाकर सो जाना पड़ता है, किंतु अपने पति से मिलने वाले प्यार और बच्चों के वात्सल्य में वह इतना आत्मविभोर आनंदित रहती हैं जितनी किसी धन कुबेर अथवा शक्ति-संपन्न व्यक्ति को कल्पना भी नहीं हो सकती। आनंद का स्रोत भावनाओं में हैं, पदार्थ में नहीं। इसीलिए भारतीय संस्कृति ने भावनाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया। शोध, अनुसंधान यहाँ भी हुए हैं, पर वह सब इस भाव-विज्ञान के नियंत्रण में हुए हैं। क्रूरता तो हिंस्र-पशुओं के साथ भी नहीं बरती गई। यही कारण है कि इस गए गुजरे युग में भी हमारी शांति और प्रसन्नता अक्षुण्ण हैं, पर यदि अपनी संस्कृति की उपेक्षा करके पश्चिमी सभ्यता की चौंध के पीछे भागे, तो पश्चिमी देशों जैसा भयावह परिस्थितियाँ यहाँ भी उठ खड़ी हो सकती है। इस बात को टाला जाना चाहिए। उसकी शुरूआत जीव-जंतुओं के प्रति करुणा, दया, उदारता का भाव अपनाकर ही की जा सकती है संभव है, उनसे हमें कुछ भौतिक हानि भी हो, किंतु अपनी विकसित अंतःसंवेदना का प्रतिफल हमारे लिए वैसा ही सुरक्षित है, जैसा क्रूरता के दुष्परिणाम सुनिश्चित देखे गए हैं।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा